वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श 'ध्रुवविलासिनी' हिन्दीव्याख्योपेता

अथ तिङन्ते आत्मनेपदप्रकरणम्

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (सू० २१५७)

आस्ते । शेते ।

धातु से आत्मनेपद और परस्मैपद विधान करने वाले सूत्रों का उल्लेख भ्वादि प्रकरण में हुआ है । विस्तार से उनका विवेचन करने के लिये व्याख्यात सूत्रों का पुनः यहाँ उपस्थापन किया गया है । इस सूत्र में बताया गया है कि अनुदात्त स्वर और 'ङ्' की इत्संज्ञा जिन धातुओं में हो उन (धातुओं) से आत्मनेपद होता है । आत्मनेपद विधान के लिये दूसरा सूत्र है स्वरितञितः 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ । इसमें कहा गया है कि जिन धातुओं के स्वरित स्वर तथा 'ञ्' की इत्संज्ञा हो उन धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल व्यक्त होने पर आत्मनेपद होता है । कर्तृगामी से तात्पर्य है— जहाँ क्रिया के व्यापार और फल दोनों का आश्रय कर्ता ही हो । आत्मनेपद विधान के लिए यह सामान्य नियम है ।

आत्मनेपदी धातु से प्रत्यय विधान के लिये सूत्र है —'तङानावात्मनेपदम्' २१५६ । अर्थात् धातु से आने वाले तङ् प्रत्यय (त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहिङ् और महिङ्) एवं शानच् तथा कानच् प्रत्यय आत्मनेपद प्रत्यय कहे जाते हैं । तात्पर्य है कि आत्मनेपदी धातु से लट्, लोट् आदि लकारों के स्थान में त, आताम् आदि प्रत्यय होते हैं, साथ ही शानच् और कानच् भी होते हैं । अनुदात्त इत्संज्ञक का उदाहरण है—आस् धातु से आस्ते एवम् ङित् का उदाहरण है— शीङ् धातु से शेते ।

रूपसिद्धि :—

आस्ते—'आस् उपवेशने' धातु अनुदात्त इत्संज्ञक है । अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से यहाँ आत्मनेपद का विधान होने से लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर आस्ते पद निष्पन्न होता है ।

शेते—'शीङ् स्वप्ने' धातु में 'ङ्' की इत्संज्ञा होने से इस धातु के ङित् होने के कारण 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से आत्मनेपद होने पर शीङ् धातु से त प्रत्यय आता है । 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' २१६६ से 'त' की सार्वधातुक संज्ञा होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से 'ई' का गुण ('ए') हो जाता है तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ सूत्र से टि (अ) का एत्व होने पर शेते पद सिद्ध होता है ।

२६७९। भावकर्मणोः १।३।१३।

बभूवे। अनुबभूवे।

यहाँ से आरम्भ होकर आत्मनेपद प्रकरण में आये प्रायः सभी सूत्रों में 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है कि भाव एवं कर्म अर्थ में धातु से लट्, लोट् आदि लकारों के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होते हैं। भाव का अर्थ है भावना या क्रिया। अकर्मक धातु से भाव में तथा सकर्मक धातु से कर्म रूप अर्थ में आत्मनेपद के प्रत्यय (त, आताम् आदि) होते हैं। व्यापार एवं फल का आश्रय जहाँ एक ही व्यक्ति हो उसे अकर्मक धातु कहते हैं। इस प्रकार व्यापार फल समानाधिकरण वाचक भू धातु अकर्मक है। अतः भाव में भू धातु से लिट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर बभूवे रूप बनता है। अकर्मक भू धातु अनुभव रूप अर्थ में सकर्मक हो जाता है। अतः अनुपूर्वक भू धातु से लिट् लकार में कर्मवाच्य में अनुबभूवे रूप होता है। यहाँ सकर्मक भू धातु है। कर्ता की प्रधानता रहने पर कर्तृवाच्य में 'सः प्रसादम् अनुभवति' तथा कर्म प्रधान रहने पर कर्मवाच्य में तेन प्रसादः अनुभूयते—ऐसा प्रयोग होता है। कर्तृवाच्य में भवति एवम् अनुभवति रूप होते हैं।

प्रयोग सिद्धि :—

बभूवे—भू धातु से लिट् लकार में भाव अर्थ में 'भावकर्मणोः' २६६९ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय आता है। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' २२४१ से 'त' का 'ए' आदेश होने के बाद 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' २१७४ से 'वुक्' का आगम होने पर अनुबन्ध लोप के अनन्तर भूव् ए की स्थिति में 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' २१७७ से अवयव सहित धातु का द्वित्व होने पर 'भूव् भूव् ए' की स्थिति में 'पूर्वोऽभ्यासः' २१७८ से पूर्व (भूव्) की अभ्याससंज्ञा होने पर 'हलादिशेषः' २१७९ से आदि हल् का शेष करने तथा अन्य हल् का लोप करने पर 'ह्रस्वः' २१८० से आदि हल् में लगे स्वर (ऊ) का ह्रस्व (उ) करने पर 'भवतेरः' २१८१ से उकार का अकार आदेश होने के बाद 'अभ्यासे चर्च' २१८२ से अभ्यास (पूर्व) में स्थित झल् (भ) का चर् एवं जश्त्व (ब) होने के बाद बभूवे पद बनता है।

अनुबभूवे—अनु पूर्वक भू धातु से लिट् लकार में कर्म अर्थ में 'भावकर्मणोः' २६६९ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय आता है। 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' २२४१ से 'त' का 'एश्' आदेश होने पर 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' २१७४ से 'वुक्' का आगम होने के बाद अनुबन्धलोप के अनन्तर 'भूव् ए' की स्थिति में 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' २१७७ से अवयव सहित धातु का द्वित्व होने पर 'भूव् भूव् ए' की स्थिति में 'पूर्वोऽभ्यासः' २१७८ से पूर्व (भूव्) की अभ्याससंज्ञा होने पर 'हलादिशेषः' २१७९ से आदि हल् का शेष करने तथा अन्य हल् का लोप करने पर 'ह्रस्वः' २१८० से आदि हल में लगे स्वर (ऊ) का ह्रस्व (उ) करने पर 'भवतेरः' २१८१ से उकार का अकार आदेश होने के बाद 'अभ्यासे

चर्च' २१८२ से अभ्यास (पूर्व) के झल् (भ्) का चर्त्व एवं जश्त्व (ब्) होने पर अनुबभूवे पद बनता है। अतः वाक्य प्रयोग होगा—रामेण दुःखम् अनुबभूवे। अर्थात् राम के द्वारा दुःख का अनुभव किया गया है। यहाँ कर्म दुःख है। अतः कर्म अर्थ में आत्मनेपद प्रत्यय हुआ है।

२६८०। कर्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४।

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदं स्यात्। व्यतिलुनीते। अन्यस्य योग्यं लवनम् अन्यः करोतीत्यर्थः। 'श्नसोरल्लोपः' (सू० २४६९), व्यतिस्ते। व्यतिषाते। व्यतिषते। 'तासस्त्योः–' (सू० २१९१), इति सलोपः, व्यतिसे। 'धि च' (सू० २२४९), व्यतिध्वे। 'ह एति' (सू० २२५०), व्यतिहे। व्यत्यसै। व्यत्यास्त। व्यतिषीत। व्यतिराते ३। व्यतिभाते ३। व्यतिबभे।

सूत्र में कर्म शब्द क्रिया के अर्थ में है। कर्म की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशात् यत् तत्कर्म। अर्थात् धात्वर्थ क्रियायें कर्ता, कर्म आदि संज्ञाओं की प्रवृत्ति में निमित्त हैं। कर्म का अर्थ यहाँ कर्मकारक नहीं, अपितु क्रिया है। व्यतिहार का अर्थ है—विनिमय। इस प्रकार से सूत्र का अर्थ है कि क्रिया का विनिमय अर्थ द्योतित होने पर कर्ता अर्थ में आत्मनेपद होता है। इसका उदाहरण है—व्यतिलुनीते। अर्थात् दूसरे के छेदन (काटना) योग्य कार्य को दूसरा करता है। क्रिया का विनिमय अर्थ द्योतित होने से यहाँ 'लूञ् छेदने' १५८१ धातु से आत्मनेपद हुआ है।

वि+अति पूर्वक अस् धातु का प्रयोग क्रिया-विनिमय अर्थ में होने पर आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होने से 'श्नसोरल्लोपः' २४६९ से 'अ' लोप होने पर व्यतिस्ते रूप होता है। 'व्यतिसे' पद में 'अ' लोप के बाद 'तासस्त्योर्लोपः' २१९१ से 'स्' का लोप हो जाने पर मात्र 'से' बचता है। 'व्यतिध्वे' में भी आकार लोप एवं 'धि च' २२४९ से सकार का लोप हो जाने पर 'ध्वे' मात्र बचता है। वि+अति पूर्वक अस् धातु के स्' का 'ह एति' २२५० से 'ह' होने से व्यतिहे पद बनता है। इसी प्रकार व्यत्यसै आदि रूप होते हैं। लिट् लकार में व्यतिबभे रूप होता है।

रूपसिद्धि :—

व्यतिलुनीते—वि + अति पूर्वक 'लूञ् छेदने' १५८१ धातु से काटना क्रिया का व्यतिहार या विनिमय अर्थ द्योतित होता है। इस पद का अर्थ है कि दूसरे के काटने योग्य वस्तु को दूसरा व्यक्ति काटता है। अतः 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर लूञ् धातु का पाठ क्र्यादिगण में होने से 'क्र्यादिभ्यः श्ना' २५५४ से श्ना (ना) विकरण होने पर 'ई हल्यघोः' २४९७ से 'आ' का ईत्व एवं 'प्वादीनां ह्रस्वः' २५५८ से धातु का ह्रस्व होकर 'वि अति लु नी त' की स्थिति में

'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने के बाद यण् करके व्यतिलुनीते प्रयोग होता है।

व्यतिस्ते—यहाँ वि + अति पूर्वक 'अस् भुवि' धातु से दूसरे (ब्राह्मणादि) द्वारा किये जाने वाले (तपस्या) कार्य का दूसरे (चाण्डालादि) द्वारा किया जाना अर्थ द्योतित होता हैं। अतः क्रिया विनिमय अर्थ होने से 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आता है। 'वि अति अस् त' की स्थिति में 'श्नसोरल्लोपः' २४६९ से 'अ' लोप होने पर यण् के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर व्यतिस्ते पद बनता है।

२६८१। न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५।

व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति। 'प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम्' (वा० ८९८)। हसादयो हसप्रकाराः शब्दक्रियाः। व्यतिहसन्ति। व्यतिजल्पन्ति। 'हरतेरप्रतिषेधः' (वा० ८९६), सम्प्रहरन्ते राजानः।

यह सूत्र 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० का अपवाद है। इस सूत्र का अर्थ है कि क्रिया के विनिमय अर्थ में गत्यर्थक तथा हिंसार्थक धातु के रहने पर 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' से प्राप्त आत्मनेपद नहीं होता है। इसका उदाहरण है—व्यतिगच्छन्ति, व्यतिघ्नन्ति। अर्थात् दूसरे के गमन योग्य व्यापार को दूसरा करता है तथा दूसरे की हनन योग्य क्रिया को दूसरा करता है। संयोगजनक व्यापारार्थक गम् धातु तथा प्राणवियोगजनक क्रियार्थक हन् धातु से आत्मनेपद 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से प्राप्त था जिसका निषेध प्रकृत सूत्र से होने पर परस्मैपद में व्यतिगच्छन्ति तथा व्यतिघ्नन्ति पद बना है।

हस आदि धातु का भी आत्मनेपद प्रतिषेध हो जाता है। अर्थात् हस आदि धातुओं से भी आत्मनेपद नहीं होता है। हसना क्रिया से शब्द करना क्रिया का बोध होता है। इसलिये शब्दकर्मक धातुओं (जल्प आदि) का भी आत्मनेपद निषेध के प्रसंग में ग्रहण होता है। अतः वि + अति पूर्वक हस धातु से परस्मैपद में व्यतिहसन्ति तथा वि + अति पूर्वक जल्प धातु से व्यतिजल्पन्ति रूप होता है।

हृ धातु से प्राप्त आत्मनेपद का प्रतिषेध नहीं होता है। अर्थात् इससे आत्मनेपद हो जाता है। इसका उदाहरण है—सम्प्रहरन्ते राजानः। अर्थात् राजा लोग परस्पर युद्ध में एक दूसरे पर प्रहार करते हैं, यहाँ सम् पूर्वक हृ धातु से आत्मनेपद में 'झ' प्रत्यय करने पर सम्प्रहरन्ते रूप बना है।

रूपसिद्धि :—

व्यतिगच्छन्ति—इस पद का अर्थ है—दूसरे के गमन योग्य व्यापार को दूसरा करता है। अतः क्रियाविनिमय अर्थ द्योतित होने से वि + अति पूर्वक 'गम्लृ गतौ' १०५१ धातु से आत्मनेपद का विधान 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से प्राप्त होता है, किन्तु गत्यर्थक धातु

होने से 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' २६८१ से आत्मनेपद का निषेध हो जाने के कारण परस्मैपद होने से लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय आने पर झ का अन्तादेश आदि कार्य के बाद व्यतिगच्छन्ति पद बना है।

व्यतिघ्नन्ति—इसका अर्थ है—परस्पर एक दूसरे का हनन करते हैं। अतः क्रिया का विनिमय अर्थ द्योतित होने के कारण वि + अति पूर्वक 'हन हिंसागत्योः' १०८२ धातु से आत्मनेपद की प्राप्ति 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से होने पर हिंसार्थक धातु का प्रयोग होने के कारण 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' से उसका निषेध होकर परस्मैपद होता है। अतः लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय आने पर अन्तादेश आदि के बाद व्यतिघ्नन्ति रूप सिद्ध होता है।

व्यतिहसन्ति—इसका अर्थ है—परस्पर एक दूसरे पर छींटाकसी करते हैं। यहाँ क्रिया का विनिमय अर्थ द्योत्य होने से वि + अति पूर्वक 'हसे हसने' ७६७ धातु से आत्मनेपद की प्राप्ति 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से होने पर 'प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम्' ८९८ वार्तिक से आत्मनेपद का निषेध होने के कारण परस्मैपद होने से लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय में 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश आदि कार्य के बाद व्यतिहसन्ति पद बनता है।

व्यतिजल्पन्ति—इसका अर्थ है—परस्पर एक दूसरे को बहुत हँसते या बोलते हैं। यहाँ क्रिया का विनिमय अर्थ द्योत्य होने से वि + अति पूर्वक 'जल्प व्यक्तायां वाचि' ४२५ धातु से आत्मनेपद की प्राप्ति 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' २६८० से होने पर बोलने तथा हँसने में शब्द क्रिया के सादृश्य के कारण 'हसादीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक से आत्मनेपद का निषेध होकर परस्मैपद में लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय आने से अन्तादेश आदि के बाद व्यतिजल्पन्ति पद बनता है।

सम्प्रहरन्ते राजानः—हृ धातु परस्मैपदी है। अतः लट् के स्थान में झि प्रत्यय में हरन्ति रूप होता है किन्तु क्रियाविनिमय अर्थ द्योतित होने पर 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' से आत्मनेपद का विधान होता है। यहाँ सम्प्रहरन्ते राजानः का अर्थ है—राजा लोग युद्ध में परस्पर प्रहार करते हैं, अतः क्रिया विनिमय होने से आत्मनेपद प्राप्ति की स्थिति में प्रहार में हिंसा होने से 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' से प्राप्त निषेध का बाध 'हरतेरप्रतिषेधः' वार्तिक से होने के कारण आत्मनेपद ही होता है। अतः सम् + प्र पूर्वक हृ धातु से लट् लकार के स्थान में झि प्रत्यय में 'झोऽन्तः' २१६९ से झ् का अन्तादेश एवं टि का एत्व होने पर सम्प्रहरन्ते रूप बना है। अतः 'सम्प्रहरन्ते राजानः' यह वाक्यप्रयोग है।

२६८२ इतरेतरान्योऽन्योपपदाच्च १।३।१६।

'परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम्' (वा० ९००)। इतरेतरस्यान्योऽन्यस्य परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति।

कर्मव्यतिहार अर्थ रहने पर इतरेतर तथा अन्योन्य (शब्द) उपपद में रहे तब धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। वार्तिक के अनुसार परस्पर शब्द यदि उपपद में

रहे तब भी धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। तात्पर्य है कि जहाँ उसकी क्रिया को यह करता है और दूसरे की क्रिया को दूसरा करता है। इस प्रकार आपस की क्रिया को आपस में ही परस्पर कर लेते हैं वहाँ आत्मनेपद नहीं होता है। यथा—व्यतिलुनन्ति। अर्थात् एक दूसरे की छेदन क्रिया को परस्पर आपस में एक दूसरे कर लेते हैं।

रूपसिद्धि :—

व्यतिलुनन्ति—यहाँ परस्पर एक दूसरे के छेदन कार्य को एक दूसरे के द्वारा करना व्यक्त होता है। अतः वि + अति पूर्वक 'लुञ् छेदने' धातु से आत्मनेपद का निषेध होकर परस्मैपद में लट् लकार के स्थान में झि प्रत्यय में अन्तादेश आदि के बाद व्यतिलुनन्ति पद बनता है।

२६८३। नेर्विशः। १।३।१७।

निविशते।

नि उपसर्ग पूर्वक विश् धातु से लकार के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय होता है। उदाहरण है—निविशते।

सूत्र में 'नि' उपसर्ग पढा गया है। अतः 'प्र' आदि के रहने पर परस्मैपद हीं होता है। जैसे—प्रविशति। शिशुपालवध में माघ का पद्य है—'नवाम्बुदश्यामवपुर्न्यविक्षत' (१-१९)। यहाँ शंका उठायी जाती है कि नि पूर्वक विश धातु के मध्य में अडागम होने से व्यवधान हो जाने पर आत्मनेपद प्रयोग यहाँ कैसे हुआ ? समाधान दिया जाता है कि लकार में धातु से अडागम होता है। अतः 'अट्' धातु का अंग है इसलिये अङ्ग होने के कारण 'अट्' से व्यवधान नहीं माना जाता है अतः व्यवधान नहीं होने से आत्मनेपद हो जाता है। भाष्यकार का भी यही मत है।

दूसरा समाधान and यह वार्तिक है—

'उपसर्गनियमेऽड्व्यवाये उपसंख्यानम्'। अर्थात् उपसर्ग और धातु के मध्य में 'अट्' का व्यवधान रहने पर भी कार्य होता हैं।

रूपसिद्धि :—

निविशते—'विश प्रवेशने' १५१८ धातु परस्मैपदी है। अतः विशति प्रयोग होता है। किन्तु नि पूर्वक 'विश प्रवेशने' धातु का प्रयोग रहने पर 'नेर्विशः' २६८३ से आत्मनेपद का विधान होता है। अतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर निविशते रूप होता है।

२६८४। परिव्यवेभ्यः क्रियः १।३।१८।

अकर्त्रभिप्रायार्थमिदम्। परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते।

परि, वि तथा अव उपसर्ग रहने पर 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' १५६७ धातु से आत्मनेपद होता है। यद्यपि ञित् धातु से आत्मनेपद होता ही है किन्तु कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर

ही ऐसा होता है। इस सूत्र का अभिप्राय है कि क्रियाफल कर्ता में नहीं रहने पर भी आत्मनेपद होता है। इसके उदाहरण अग्रलिखित हैं—

परि+क्री+त=परिक्रीणीते (धर्म के लिये खरीदता है)।

वि+क्री+त=विक्रीणीते (समाज सेवा के लिये बेचता है)।

अव+क्री+त=अवक्रीणीते (दूसरे की हानि के लिये भाव गिराता है)।

रूपसिद्धि :—

परिक्रीणीते—यहाँ 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' धातु के ञित् होने से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ सूत्र से कर्ता अर्थ में आत्मनेपद विधान है, किन्तु, परगामी क्रियाफल होने पर भी 'परिव्यवेभ्यः क्रियः' २६८४ से परि उपसर्ग पूर्वक क्री धातु से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर परिक्रीणीते रूप बनता है। इसका अर्थ है—परोपकार के लिये खरीदता है।

विक्रीणीते—वि पूर्वक क्री धातु के रहने पर परगामी क्रियाफल रहने से भी 'परिव्यवेभ्यः क्रियः' २६८४ से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २१३३ से एत्व होने पर विक्रीणीते प्रयोग होता है। अर्थात् समाज सेवा के लिये बेचता है।

अवक्रीणीते—अव पूर्वक क्री धातु से परगामी क्रियाफल होने से भी 'परिव्यवेभ्यः क्रियः' २६८४ से आत्मनेपद विधान के बाद लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर अवक्रीणीते रूप होता है। अर्थात् दूसरे की हानि के लिये मूल्य गिराता है।

२६८५। **विपराभ्यां जेः** १।३।१९।

विजयते। पराजयते।

वि अथवा परा उपसर्ग से परे 'जि जये' ६०१ धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे विजयते (उत्कर्ष को प्राप्त करता है)। पराजयते (अपकर्ष को प्राप्त करता है)।

रूपसिद्धि :—

विजयते—'जि जये' ६०१ धातु से लट् के स्थान में तिप् होने से परस्मैपद में जयति रूप होता है, किन्तु जि धातु से पूर्व में 'वि' उपसर्ग के रहने पर 'विपराभ्यां जेः' से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर विजयते पद बनता है।

पराजयते—जि धातु से परस्मैपद में जयति रूप होता है, किन्तु 'विपराभ्यां जेः' २६८५ से परा पूर्वक जि धातु के यहाँ रहने से आत्मनेपद विधान होने पर 'त' प्रत्यय होने पर 'परा जि त' की स्थिति में शप् (अ) का विकरण होने से अयादेश के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से टि (अ) का एत्व होने पर पराजयते पद बनता है।

२६८६। आङो दोऽनास्यविहरणे १।३।२०।

आङ्पूर्वाद्दातेर्मुखविकसनादन्यत्रार्थे वर्तमानादात्मनेपदं स्यात्। विद्यामादत्ते। 'अनास्य'—इति किम्? मुखं व्याददाति। आस्यग्रहणमविवक्षितम्। विपादिकां व्याददाति। पादस्फोटो विपादिका। नदीकूलं व्याददाति। 'पराङ्गकर्मकान्न निषेधः' (वा० ९०३)। व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम्।

आङ् पूर्वक दा धातु से आत्मनेपद होता है यदि मुखविकसन या मुँह का खुलना अर्थ वहाँ नहीं हो। जैसे—विद्याम् आदत्ते। अर्थात् वह विद्या को ग्रहण करता है। मुख के विकसन अर्थ में परस्मैपद होता है। सूत्र में 'अनास्य' ग्रहण क्यों किया गया? इसके उत्तर में बताते हैं—मुखं व्याददाति। अर्थात् मुँह खोलता है। यहाँ मुख का विकसन अर्थ होने से परस्मैपद हुआ है। भट्टोजिदीक्षित का मत है कि 'आस्य' ग्रहण यहाँ अनिवार्य नहीं है। विकसन अर्थ रहने पर यह निषेध हो जाता है। जैसे—विपादिकां व्याददाति। पैर की बेवाई को विपादिका कहते हैं। क्षार, औषध आदि से उसका विदारण करता है यह अर्थ होने से यहाँ परस्मैपद हुआ है। नदी कूलं व्याददाति' (नदी किनारे को काटती है)—में केवल विकसन अर्थ होने से मुख का विदारण अर्थ नहीं रहने पर भी आत्मनेपद नहीं हुआ है।

मुख विकास का कर्म यदि दूसरे का अङ्ग हो तब आत्मनेपद का निषेध नहीं होता है। अर्थात् वहाँ आत्मनेपद हो जाता है। जैसे—व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम् (चींटी पतङ्ग के मुख को खोलती है)—में विकसन का कर्म दूसरे (पतङ्ग) का अङ्ग (मुँह) है। अतः आत्मनेपद हुआ है। 'आस्यविकसने न'—इस निषेध की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है। अतः आत्मनेपद का विधान हो जाता है।

रूपसिद्धि :—

विद्यामादत्ते—'डुदाञ् दाने' ११६६ धातु के ञित् होने के कारण कर्तृगामी क्रिया फल रहने पर इससे आत्मनेपद होता ही है। अतः परगामी क्रिया फल अर्थ व्यक्त होने पर भी आत्मनेपद का उदाहरण है यह।

यहाँ आङ् पूर्वक दा धातु का अर्थ (विद्या) ग्रहण करना है जिससे गुरु का यश भी बढ़ता है। यहाँ मुख विदारण अर्थ नहीं रहने से 'आङो दोऽनास्यविहरणे' २६८६ सूत्र से आङ् पूर्वक दा धातु से आत्मनेपद का विधान होता है। फलतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आता है तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर आदत्ते रूप सिद्ध होता है।

इस आत्मनेपद विधायक सूत्र में 'अनास्यविहरणे' पद का प्रयोग होने से मुखविदारण अर्थ रहने पर परस्मैपद ही होता है। यथा—मुखं व्याददाति।

नदी कूलं व्याददाति—आङ् पूर्वक दा धातु का मुख विदारण से भिन्न अर्थ होने पर 'आङो दोऽनास्यविहरणे' २६८६ से आत्मनेपद होता है। जैसे—विद्यामादत्ते (विद्या ग्रहण

करता है) भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र के विवेचन में कहा है—'आस्यग्रहणमविवक्षितम्। अर्थात् आस्य (मुह) का ग्रहण यहाँ आवश्यक नहीं है, केवल विकसन अर्थ रहने पर भी परस्मैपद हो जाता है। यथा—नदी कूलं व्याददाति। यहाँ नदी का विकास (फैलाव) व्यक्त होता है। विकसन अर्थ होने से 'आङो दोऽनास्यविहरणे' २६८६ से आत्मनेपद नहीं होने पर वि+आङ् पूर्वक दा धातु से परस्मैपद में लट् के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय आने पर व्याददाति पद बनता है।

व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम्—

आत्मनेपद प्रकरण में 'आङो दोऽनास्यविहरणे' २६८६ सूत्र से अनास्यविहरण (मुख विदारण अर्थ नहीं) रहने पर ही आङ् पूर्वक दा धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—विद्यामादत्ते।

इस सूत्र के सन्दर्भ में एक वार्तिक आता है—पराङ्गकर्मकान्न निषेधः। अर्थात् आस्य विहरण का कर्म यदि दूसरे का अङ्ग हो तब आत्मनेपद का निषेध नहीं होता है। यानि, आत्मनेपद हो जाता है। इसी वार्तिक का उदाहरण है—'व्याददते पिपीलिका पतङ्गस्य मुखम्। अर्थात् चींटी पतङ्ग के मुख को विदारती है। यहाँ कर्म पतङ्ग का मुख है जो पराङ्ग है। अतः वि आङ् पूर्वक दा धातु से प्रकृत वार्तिक से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'झ' प्रत्यय होने पर 'झ्' का 'अत्' एवं टि (अ) का एत्व होने पर व्याददते प्रयोग बना है।

२६८७। क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च १।३।२१।

चादाङः। अनुक्रीडते। संक्रीडते। परिक्रीडते। आक्रीडते। अनोः कर्मप्रवचनीयान्न, उपसर्गेण समा साहचर्यात्। माणवकमनुक्रीडति। तेन सहेत्यर्थः। 'तृतीयार्थे' (सू० ५५०) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्। 'समोऽकूजने' (वा० ९०४)। संक्रीडते। कूजने तु संक्रीडति चक्रम्। 'आगमेः क्षमायाम्' (वा० ९०५)। ण्यन्तस्येदं ग्रहणम्। आगमयस्व तावत्, मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः। 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' (वा० ९०६) धनुषि शिक्षते। धनुर्विषये ज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः। 'आशिषि नाथः' (वा० ९१०) आशिष्येवेति नियमार्थं वार्तिकमित्युक्तम्। सर्पिषो नाथते। सर्पिर्मे स्यादित्याशास्त इत्यर्थः। कथं—'नाथसे किमु पतिं न भूभृताम्' इति। 'नाधसे' इति पाठ्यम्। 'हरतेर्गतताच्छील्ये' (वा० ९०८)। गतं प्रकारः। पैतृकमश्वा अनुहरन्ते। मातृकं गावः। पितुर्मातुश्चागतं प्रकारं सततं परिशीलयन्तीत्यर्थः। ताच्छील्ये किम्? मातुरनुहरति। 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' (वा० ९०७)। हर्षादयो विषयाः। तत्र हर्षो विक्षेपस्य कारणम्' इतरे फले।

अनु, सम् तथा परि उपसर्ग से युक्त 'क्रीड् विहारे' ३७३ धातु से आत्मनेपद होता है। 'च' से 'आङ्' उपसर्ग का भी ग्रहण होता है। अतः आङ् पूर्वक क्रीड धातु से भी

आत्मनेपद होता है। उदाहरण है—अनु पूर्वक क्रीड धातु से 'त' प्रत्यय होने पर अनुक्रीडते। सम् + क्रीड + त = संक्रीडते। परि + क्रीड + त = परिक्रीडते। आ + क्रीड = त = आक्रीडते। यहाँ कर्म के साहचर्य से अकर्मप्रवचनीय गृहीत है। जहाँ 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा 'तृतीयार्थे' ५५० से होती है वहाँ आत्मनेपद नहीं होता है। अतः प्रयोग है—माणवकम् अनुक्रीडति। अर्थात् मानव बालक के साथ खेलता है। यहाँ 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उसमें आत्मनेपद का निषेध हो गया है। कूजन से भिन्न अर्थ में सम् पूर्वक क्रीड धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—संक्रीडते। अर्थात् खुलकर खेलता है। कूजन अर्थ होने पर तो परस्मैपद ही होता है। यथा—संक्रीडति चक्रम्। अर्थात् चक्र यन्त्र = चर्खी आवाज करता है।

आङ् पूर्वक गम् धातु से क्षमा अर्थ व्यक्त होने पर आत्मनेपद होता है। यहाँ ण्यन्त का ही ग्रहण अभीष्ट है। जैसे—'आगमयस्व तावत्'। अर्थात् उसे आने दो, जल्दी मत करो।

'शिक्ष विद्योपादाने' ६४५ धातु से जिज्ञासा अर्थ में आत्मनेपद होता है। यथा—धनुषि शिक्षते। अर्थात् धनुर्विद्या के ज्ञान में समर्थ होने की इच्छा करता है।

शुभकामना रूप आशीर्वाद अर्थ में ही 'नाथ' धातु से आत्मनेपद होता है। अतः अन्य अर्थ में नहीं होता है। इस नियम के लिये ही यह वार्तिक है। जैसे—'सर्पिषः नाथते'। इसका अर्थ है—घी मुझे प्राप्त हो, इसके लिये इच्छा करता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि—'नाथसे किमु पतिं न भूभृताम् (पर्वतों के स्वामी (हिमालय) से क्यों नहीं माँगते हो?)—इस वाक्य में नाथ धातु याचना के अर्थ में है, आशीर्वाद के अर्थ में नहीं, तब फिर आत्मनेपद में नाथ धातु का प्रयोग कैसे हुआ? भट्टोजिदीक्षित का मत है कि यहाँ 'नाधसे' पाठ उचित है, 'नाथसे' नहीं।

गत ताच्छील्य (उसके शील के भाव के अनुगमन) अर्थ में अनु पूर्वक हृ धातु से आत्मनेपद होता है। 'गत' शब्द का अर्थ प्रकार है और प्रकार सादृश्य को कहते हैं। इसका उदाहरण है—'पैतृकम् अश्वा अनुहरन्ते, मातृकं गावः'। अर्थात् घोड़े पिता के स्वभाव का अनुसरण करते हैं और गाय माता के स्वभाव गुण का। तात्पर्य है कि घोड़े और गायें क्रमशः पिता और माता के गुणों के स्वभाव का निरन्तर परिशीलन करते हैं। ताच्छील्य से भिन्न अर्थ में परस्मैपद होता है।

हर्ष, जीविका और कुलायकरण (आश्रय, सम्पत्ति, ठहरने का स्थान) अर्थ में कृ धातु से आत्मनेपद होता है। हर्ष आदि अर्थ कृ धातु के विषय हैं। यह (हर्ष) विक्षेप क्रिया में कारण है। दूसरे, जीविका और कुलायकरण विक्षेप के साध्य हैं। इस प्रकार हर्षादि बोध अनुभव का विषय हो तभी आत्मनेपद होता है। भाष्य में भी इसी को ध्यान में रखकर उदाहरण दिये गये हैं।

प्रयोगसिद्धि :—

अनुक्रीडते—'क्रीडृ विहारे' ३७३ धातु परस्मैपदी है। अतः क्रीडति रूप होता है,

किन्तु क्रीड धातु से पूर्व में जब अनु आदि उपसर्ग रहते हैं तब, 'क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च' २६८७ से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर अनुक्रीडते रूप बनता है।

इसी प्रकार सम् पूर्वक क्रीड धातु से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में **संक्रीडते** तथा परिपूर्वक क्रीड् धातु से 'त' प्रत्यय में **परिक्रीडते** एवम् आङ् पूर्वक क्रीड धातु से आत्मनेपद में **आक्रीडते** रूप होते हैं।

संक्रीडति चक्रम्--क्रीड धातु परस्मैपदी है। अतः क्रीडति रूप होता है, किन्तु सम् उपसर्ग पूर्वक क्रीड धातु रहने पर 'क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च' २६८७ से आत्मनेपद विधान होने से संक्रीडते पद बनता है।

इस प्रसंग में एक वार्तिक है—'समोऽकूजने' इसका अर्थ है कि कूजन = शब्द करना अर्थ नहीं रहने पर ही आत्मनेपद होता है। यहाँ 'संक्रीडति चक्रम्' का अर्थ है—चक्र यन्त्र आवाज करता है। अतः कूजन अर्थ होने के कारण आत्मनेपद क्रीड धातु से नहीं होता है। फलतः परस्मैपद में लट् के स्थान में तिप् आने पर संक्रीडति पद बनता है।

धनुषि शिक्षते—शक्तुम् इच्छति इस विग्रह में 'शक्लृ शक्तौ' १३४३ धातु से 'धातोः कर्मणः समान- कर्तृकादिच्छायां वा' २६०८ सूत्र से सन् प्रत्यय होने पर 'सनि मीमाघु—' २६२३ से 'इस्' प्रत्यय होने के बाद अभ्यास (स्) लोप तथा षत्व एवं क् + ष् = क्ष होने पर शिक्ष धातु से परस्मैपद में शिक्षति रूप होता है।

यहाँ शिक्ष धातु का अर्थ सीखने की इच्छा रूप जिज्ञासा है। अतः 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्' इस वार्तिक से शिक्ष धातु आत्मनेपदी हो जाता है। फलतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर शिक्षते प्रयोग होता है। अतः धनुषि शिक्षते वाक्य प्रयोग है। अर्थात् धनुष विषयक ज्ञान में समर्थ या सफल होना चाहता है। 'धनुषि शिक्षते' इस वाक्य प्रयोग में 'शिक्ष विद्योपादाने' ६४५ धातु का ग्रहण नहीं है क्योंकि भ्वादि में पठित यह धातु अनुदात्तेत् होने के कारण 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' २१५७ से ही आत्मनेपदी सिद्ध है।

सर्पिषः नाथते—इसका अर्थ है घृत की प्राप्ति हो इसके लिये इच्छा करता है। यहाँ नाथ धातु का प्रयोग आशीर्वाद अर्थ में है। अतः 'आशिषि नाथः' इस वार्तिक से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से एत्व होकर नाथते पद बनता है।

याचना अर्थ में नाथ धातु परस्मैपदी है अतः लट् के स्थान में तिप् आने पर नाथति पद होता है।

भट्टोजिदीक्षित ने प्रश्न उठाया है कि 'नाथसे किमु पतिं न भूभृताम्'—इस कालिदास के प्रयोग में याचना अर्थ में प्रयुक्त नाथ धातु आत्मनेपदी कैसे हुआ? इसका समाधान वे स्वयम् देते हैं कि यहाँ 'नाथसे' के स्थान पर 'नाधसे' पाठ उचित है।

२६८८। अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ६।१।१३९।

अपात्किरतेः सुट् स्यात्। 'सुडपि हर्षादिष्वेव वक्तव्यः' (वा० ३७०६)। अपस्किरते वृषो हृष्टः, कुक्कुटो भक्षार्थी, श्वा आश्रयार्थी च। हर्षादिषु इति किम्—अपकिरति कुसुमम्। इह तङ्सुटौ न। हर्षादिमात्रविवक्षायां यद्यपि तङ् प्राप्तस्तथापि सुडभावे नेष्यते इत्याहुः। गजोऽपकिरति। 'आङि नुप्रच्छयोः' (वा० ९०९)। आनुते। आपृच्छते। 'शप उपालम्भे' (वा० ९११)। आक्रोशार्थात् स्वरितेतोऽकर्तृगेऽपि फले शपथरूपेऽर्थे आत्मनेपदं वक्तव्यमित्यर्थः। कृष्णाय शपते।

चौपाया एवं पक्षिविशेष अर्थ गम्यमान रहने पर खनन अर्थ में अप पूर्वक कृ धातु से सुट् का आगम होता है। जिन हर्ष आदि अर्थों में 'किरतेर्हर्ष—' इत्यादि वार्तिक से आत्मनेपद का विधान किया गया है उन्हीं से सुट् का आगम भी होता है—ऐसा कहना चाहिये। यथा—'अपस्किरते वृषो हृष्टः।' अर्थात् प्रसन्न होकर बैल खुर से जमीन खरोचता हुआ धूल फेंकता है। यहाँ हर्ष कारण है। उसका कार्य है विक्षेप (फेंकना)। मुर्गा भक्ष्य वस्तु की खोज में पृथ्वी खोदता है और कुत्ता आश्रय (बैठने) के लिये खोदता है। अतः 'सुट्' होकर अपस्किरते प्रयोग है। जहाँ हर्षादि अर्थ नहीं हो वहाँ आत्मनेपद तथा 'सुट्' नहीं होता है। जैसे—अपकिरति कुसुमम्। अर्थात् फूल बिखेरता है। यहाँ आत्मनेपद तथा सुट् नहीं हुआ। यद्यपि हर्ष की विवक्षा होने पर ही आत्मनेपद प्राप्त हुआ, किन्तु सन्नियोगशिष्ट न्याय से 'सुट्' नहीं होने के कारण आत्मनेपद भी नहीं हुआ। गजोऽपकिरति (हाथी स्वभाव से झूमता है) इस उदाहरण में हर्ष की प्रतीति होती है, किन्तु वैसा स्वभावतः है। अतः सुट् एवम् आत्मनेपद यहाँ नहीं हुआ।

आङ् पूर्वक नु एवं प्रच्छ धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—आनुते, आपृच्छते। उपालम्भ अर्थ में शप् धातु से आत्मनेपद होता है। आक्रोशार्थक शप धातु स्वरितेत् है। अतः 'शप आक्रोशे' धातु में 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से ही कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपद-सिद्धि होने पर परगामी क्रियाफल रहने पर भी उपालम्भ अर्थवाचक शप धातु से आत्मनेपद कहना चाहिये इसीलिये 'शप उपालम्भे' वार्तिक पढ़ा गया है। उदाहरण है—कृष्णाय शपते (कृष्ण पर आक्रोश व्यक्त करती है)—में आक्रोश अर्थ होने से आत्मनेपद हुआ है।

'नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण, सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि'—इस वाक्य में 'शपामि' का अर्थ है—निजाशयं प्रकाशयामि। अतः शपथ अर्थ नहीं होने से यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ।

रूपसिद्धि :—

अपस्किरते वृषो हृष्टः—इस वाक्य का अर्थ है—प्रसन्न बैल मिट्टी को खुरच कर फेंकता है। बैल चौपाया जानवर है तथा उसके द्वारा हर्षपूर्वक खनन अर्थ व्यक्त है। अतः 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक से आत्मनेपद होने पर

'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' २६८८ से अप पूर्वक कृ धातु से सुट् का विधान होने से 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर अपष्किरते प्रयोग बना है।

अपकिरति कुसुमम्—कॄ विक्षेपे धातु परस्मैपदी है। अत किरति रूप होता है, किन्तु 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक से हर्षादि अर्थ में आत्मनेपद का विधान किया गया है एवम् ('अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' २६८८ से सुट् का आगम होता है। वह 'सुट्' भी हर्ष आदि अर्थों में ही हो—ऐसा नियम 'सुडपि हर्षादिष्वेव वक्तव्यः इस वार्तिक से किया गया है। इसका उदाहरण है—'अपस्किरते वृषो हृष्टः' (बैल प्रसन्न होकर भूमि खुरचता है)

अपकिरति कुसुमम् (बैल रोग से ग्रस्त होकर फूल बिखेरता है)—में फूल बिखेरने में कारण हर्ष नहीं, रोग है। अतः 'किरतेर्हर्ष'—आदि वार्तिक से न तो आत्मनेपद हुआ और न 'अपाच्चतुष्पा' से 'सुट्' ही हुआ। इसलिये 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद में 'तिप्' होने पर अपकिरति पद बना है।

आपृच्छते—'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' १५०७ धातु परस्मैपदी है। अतः पृच्छति रूप होता है। आत्मने पद प्रकरण में वार्तिक आया है—'आङि नुपृच्छयो.'। अर्थात् आङ् पूर्वक 'नु' या 'पृच्छ' धातु से आत्मनेपद होता है। अतः यहाँ आङ् पूर्वक पृच्छ धातु से आत्मनेपद उपर्युक्त वार्तिक से होने पर 'त' प्रत्यय आने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर आपृच्छते प्रयोग होता है।

कृष्णाय शपते—(कृष्ण के प्रति उपालम्भ देती है)

शप आक्रोशे १०६९ धातु स्वरितेत् है। अतः कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपदी तथा परगामी क्रिया फल रहने पर परस्मैपदी होता है, किन्तु जब शप् धातु का अर्थ उलाहना हो तब 'शप उपालम्भे' वार्तिक से शप धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने पर शपते या कृष्णाय शपते रूप होता है।

'सख्यः शपामि' प्रयोग में उपालम्भ अर्थ नहीं रहने से आत्मनेपद नहीं हुआ है।

२६८९। समवप्रविभ्यः स्थः १।३।२२।

सन्तिष्ठते। 'स्थाघ्वोरिच्च' (सू० २३८९)। समस्थित। समस्थिषाताम्। समस्थिषत। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते। 'आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्' (वा० ९१२) शब्दं नित्यमातिष्ठते। नित्यत्वेन प्रतिजानीते इत्यर्थः।

सम्, अव तथा वि पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—सन्तिष्ठते (समाप्त होता है उत्सव)। सम् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होने पर लुङ्लकार में 'त' प्रत्यय होने पर 'स्थाघ्वोरिच्च' २३८९ से आकार का इकारादेश आदि कार्य होने पर समस्थित रूप बनता है। द्विवचन 'तस्' में समस्थिषाताम् तथा 'झ' प्रत्यय में समस्थिषत पद होता है। अव पूर्वक

स्था धातु से 'त' प्रत्यय होने पर अवतिष्ठते (नीचे लुढ़कता है) और प्र पूर्वक स्था धातु से प्रतिष्ठते (प्रतिष्ठित होता है तथा वि + स्था + त = वितिष्ठते) विशेष रूप से ठहरता है पद बनता है।

आङ् पूर्वक स्था धातु से प्रतिज्ञा अर्थ में आत्मनेपद कहना चाहिये। इसका उदाहरण है शब्दं नित्यम् आतिष्ठते। अर्थात् नित्य रूप से शब्द विषयक प्रतिज्ञा करता है। आङ् पूर्वक स्था धातु से 'त' प्रत्यय करने पर आतिष्ठते पद बना है।

रूपसिद्धिः—

सन्तिष्ठते—'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' ९९४ धातु परस्मैपदी है। अतः तिष्ठति रूप होता है, किन्तु इस धातु से पूर्व में 'सम्' उपसर्ग रहने पर 'समवप्रविभ्यः स्थः' २६८९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने के बाद 'पाघ्राध्मास्था' २३६९—से 'स्था' का 'तिष्ठ' आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होने पर परसवर्ण के बाद सन्तिष्ठते पद बनता है।

आतिष्ठते—स्था धातु के परस्मैपदी होने से तिष्ठति रूप होता है, किन्तु 'समवप्रविभ्यः स्थः' सूत्र के सन्दर्भ में आये वार्तिक—'आङः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्' से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' आने से 'स्था' का 'तिष्ठ' आदेश के बाद टि (अ) का एत्व होकर आतिष्ठते पद सिद्ध होता है। अतः वाक्य प्रयोग है – शब्दं नित्यमातिष्ठते।

समस्थित—स्था धातु के परस्मैपदी होने से तिष्ठति रूप होता है, किन्तु सम् पूर्वक स्था धातु का प्रयोग रहने पर 'समवप्रविभ्यः स्थः' २६८९ से आत्मनेपद विधान होने पर लुङ् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय में अडागम तथा सिच् के बाद 'सम् अ स्था सत' की स्थिति में 'स्थाघ्वोरिच्च' २३८९ से 'आ' का 'इ' आदेश तथा ह्रस्वादङ्गात्' २३६९ से सिच् के 'स्' का लोप होने पर समस्थित पद बनता है।

२६९० । प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च १।३।२३।

गोपी कृष्णाय तिष्ठते। आशयं प्रकाशयतीत्यर्थः। 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' कर्णादीन्निर्णेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थः।

यहाँ 'समवप्रविभ्यः स्थः' से 'स्थः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि प्रकाशन तथा स्थेय अर्थ में वर्तमान स्था धातु से आत्मनेपद होता है। प्रकाशन का अर्थ है—अपने भाव को प्रकट करना तथा स्थेय का अर्थ है—विवादपूर्ण विषय का निर्णय करने वाला। स्थेय की व्युत्पत्ति है—तिष्ठन्तेऽस्मिन् विवादपदनिर्णयार्थम्। यहाँ स्था धातु से यत् प्रत्यय करने पर स्थेय शब्द बना है। मेदिनीकोष में कहते हैं—

'स्थेयो विवादस्थानस्य निर्णेतरि पुरोहिते।' प्रकाशन का उदाहरण है—गोपी कृष्णाय तिष्ठते। अर्थात् गोपी कृष्ण से अपना आशय व्यक्त करती है। स्थेय का उदाहरण है—संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः। अर्थात् विचार में सन्देह होने पर कर्ण आदि को निर्णय के लिये जो आश्रयण करता है। स्थेय की अभिव्यक्ति के कारण यहाँ आत्मनेपद हुआ है।

रूपसिद्धि :—

तिष्ठते गोपी कृष्णाय—'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' ९९४ धातु का अर्थ ठहरना है । इस अर्थ में यह परस्मैपदी धातु है । अतः तिष्ठति रूप होता है । उपर्युक्त वाक्य—'गोपी कृष्णाय तिष्ठते' का अर्थ है—गोपी कृष्ण के प्रति अपना आशय प्रकट करती है । यहाँ स्था धातु का अर्थ है—प्रकाशन या अभिप्राय प्रकट करना । अतः 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' २६९० से यहाँ स्था धातु आत्मनेपदी हो जाता है । फलतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'पाघ्राध्मास्था' २३६० से 'स्था' का तिष्ठ आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होकर तिष्ठते प्रयोग होता है ।

'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः'—यहाँ तिष्ठते का अर्थ है विवादपूर्ण विषय में निर्णय के लिये आश्रयण करना । अतः इस स्थेय (निर्णय के लिये आश्रयण) अर्थ के कारण 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' २६९० से स्था धातु आत्मनेपदी हो जाता है । इसलिये लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर तथा स्था का तिष्ठ आदेश होने के बाद टि (अ) का एत्व होकर तिष्ठते पद बना है ।

२६९१ । उदोऽनूर्ध्वकर्मणि १।३।२४ ।

मुक्तावुत्तिष्ठते । अनूर्ध्व इति किम् ? पीठादुत्तिष्ठति । 'ईहायामेव' (वा, ९१३) । नेह—ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति ।

यहाँ 'समवप्रविभ्यः स्थः' २६८९ से 'स्थः' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र का अर्थ है कि ऊर्ध्वगमन (ऊपर जाना) से भिन्न कर्म के रहने पर उत् उपसर्ग पूर्वक स्था धातु से अत्मनेपद होता है । यथा—मुक्तौ उत्तिष्ठते । अर्थात् मुक्ति के लिये गुरुजी के पास जाने का प्रयत्न करता है । यहाँ ऊपर उठना क्रिया नहीं होने से स्था धातु आत्मनेपदी हो गया है ।

सूत्र में 'अनूर्ध्वकर्मणि' पाठ होने के कारण पीठादुत्तिष्ठत (पीठ के ऊपर की ओर उठता है)—इस वाक्य में ऊर्ध्व (ऊपर) कर्म है उठना क्रिया का । अतः प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद नहीं हुआ है । अतः परस्मैपद हुआ है ।

ईहा (इच्छा पूर्वक चेष्टा) अर्थ में ही स्था धातु से आत्मनेपद होता है । इसलिये 'ग्रामात् शतम् उत्तिष्ठति' (गाँव से सौ रुपये प्राप्त करता है)—इस वाक्य में स्था धातु से आत्मनेपद नहीं होकर परस्मैपद हुआ है ।

रूपसिद्धि :—

मुक्तावुत्तिष्ठते—स्था धातु परस्मैपदी है । अतः तिष्ठति रूप होता है । यदि उत् पूर्वक स्था धातु का कर्म ऊपर उठना नहीं हो तब 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' २६९१ से स्था धातु आत्मनेपदी हो जाता है । इसका उदाहरण है—मुक्तौ उत्तिष्ठते । अर्थात् मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है । यहाँ उठने का कर्म ऊपर नहीं है । अतः उत् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद उक्त सूत्र से होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से स्था का तिष्ठ आदेश 'पाघ्राध्मास्था' २३६० से होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होकर उत्तिष्ठते रूप होता है ।

पीठादुत्तिष्ठति—उत् पूर्वक स्था धातु का कर्म ऊपर उठना नहीं रहे तब 'उदोऽनूर्ध्व-कर्मणि' २६८१ से स्था धातु आत्मनेपदी हो जाता है, किन्तु यहाँ पीठ से ऊपर की ओर उठना अर्थ होने से उठना क्रिया का कर्म 'ऊपर' है। अतः उक्त सूत्र से आत्मनेपद नहीं होने पर 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद में 'तिप्' प्रत्यय होने पर उत्तिष्ठति प्रयोग है।

२६९२। उपान्मन्त्रकरणे १।३।२५।

आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते। 'मन्त्रकरणे' किम्? भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन। 'उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' (वा० ९१४)। आदित्य-मुपतिष्ठते। कथं तर्हि—

'स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती।' इति देवतात्वारोपात्, नृपस्य देवतांशत्वाद्वा। गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते, मित्रीकरोत्यर्थः। पन्थाः स्रुघ्नम् उपतिष्ठते, प्राप्नोतीत्यर्थः। 'वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्' (वा० ९१९)। भिक्षुकः प्रभुम् उपतिष्ठते, उपतिष्ठति वा। लिप्सया उपगच्छतीत्यर्थः।

यहाँ 'समवप्रविभ्यः स्थः' से 'स्थः' की अनुवृत्ति होती है। मन्त्रः करणं साधनं यत्र—इस विग्रह में मन्त्रकरण या स्तुति अर्थ में प्रयुज्यमान उत् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है। उदाहरण है—'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते'। अर्थात् आग्नेयी ऋचा से स्तुति के लिये आग्नीध्र नामक मण्डप विशेष में जाकर उपस्थित होता है। आग्नेयी का विग्रह है—अग्निः देवः यस्याः ऋचः सा ऋक् आग्नेयी (जिस ऋचा का देवता अग्नि हो वह ऋचा आग्नेयी कही जाती है)। यहाँ स्तुति अर्थ व्यक्त होने से उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद हुआ है। स्था धातु अकर्मक है, किन्तु 'उप उपसर्ग के रहने से यहाँ सकर्मक हो गया है।

सूत्र में 'मन्त्रकरणे' पाठ है। मन्त्रकरण या स्तुति अर्थ नहीं रहने पर परस्मैपद हो जाता है। जैसे—'भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन' (अपने यौवन से पति के पास उपस्थित होती है) यहाँ पति के पास उपस्थित होने में मन्त्र या स्तुति कारण नहीं है, अपितु यौवन ही कारण है। अतः उप पूर्वक स्था धातु से परस्मैपद होने पर उपतिष्ठति पद बना है।

देवपूजा, संगतिकरण और मित्रकरण एवं मार्ग अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद कहना चाहिये। जैसे—आदित्यमुपतिष्ठते। अर्थात् सूर्य की उपासना के लिये उपस्थित होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि रघुवंश में 'स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे' पद्य में उपतस्थे यह आत्मनेपद प्रयोग कैसे हुआ? जबकि यहाँ देवपूजा अर्थ नहीं है। इसका उत्तर देते हैं कि वहाँ राजा में देवत्व का आरोप के कारण आत्मनेपद हुआ है। अथवा राजा देवता का अंश होता है। कहा भी है—

'अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः।' संगतिकरण का उदाहरण है—गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते। अर्थात् गंगा यमुना से मिलती है। यहाँ गंगा यमुना से संगति (संगम) करती है। अतः स्था धातु आत्मनेपदी है।

मित्रकरण का उदाहरण है—रथिकानुपतिष्ठते। रथिक (रथ वाला) से मित्रता करता है। यहाँ मित्रकरण के अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद हुआ है।

मार्ग का उदाहरण है—पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते। अर्थात् रास्ता स्रुघ्न देश को जाता है। यहाँ मार्ग जाने अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद प्रयोग है।

लिप्सा (प्राप्त करने की उत्कट इच्छा) अर्थ में स्था धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है। उदाहरण है—भिक्षुकः प्रभुम् उपतिष्ठते उपतिष्ठति वा। अर्थात् भिखारी स्वामी के पास वांछित वस्तु को प्राप्त करने के लिये उपस्थित होता है। यहाँ प्राप्त करने के अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से विकल्प से आत्मनेपद हुआ है।

प्रयोगसिद्धि :—

आदित्यमुपतिष्ठते—यहाँ सूर्य देवता की पूजा के लिये उपस्थित होना अर्थ है। अतः 'उपान्मन्त्रकरणे' २६९२ के सन्दर्भ में आये वार्तिक—'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरण-पथिष्विति वाच्यम्' से देवपूजा के अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु में आत्मनेपद का विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आता है। 'पाघ्राध्मास्था' २३६० से स्था का तिष्ठ आदेश होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर उपतिष्ठते पद बना है।

गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते—यहाँ गंगा का संगतिकरण यमुना से कथित है। अतः 'उपान्मन्त्रकरणे' २६९२ सूत्र के प्रसङ्ग में आये वार्तिक 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरण-पथिष्विति वाच्यम्' से सङ्गतिकरण अर्थ में उप पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद का विधान होने के कारण लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'पाघ्राध्मास्था—' २३६० से 'स्था' का 'तिष्ठ' आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होने के बाद उपतिष्ठते पद बनता है। अतः प्रयोग है—गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते।

२६९३। अकर्मकाच्च १।३।२६।

उपतिष्ठतेरकर्मकादात्मनेपदं स्यात्। भोजनकाले उपतिष्ठते, संनिहितो भवतीत्यर्थः।

यहाँ 'समवप्रविभ्यः स्थः' २६८९ से स्थः की अनुवृत्ति होती है तथा 'उपान्मन्त्रकरणे' से 'उपात्' का ग्रहण होता है। अतः सूत्र का अर्थ है—उप पूर्वक अकर्मक स्था धातु से आत्मनेपद होता है। उदाहरण है—भोजनकाले उपतिष्ठते। अर्थात् भोजन के समय उपस्थित होता है। उपस्थित होना यह अकर्मक क्रिया है। अतः यहाँ आत्मनेपद हुआ है।

प्रयोग :—

उपतिष्ठते—यहाँ उप पूर्वक स्था धातु का अर्थ उपस्थित होना है। जो अकर्मक क्रिया है। अतः 'अकर्मकाच्च' २६९३ से स्था धातु का आत्मनेपद विधान होने से 'पाघ्राध्मास्था—' २३६० से 'स्था' का 'तिष्ठ' आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होने पर उपतिष्ठते प्रयोग हुआ है।

२६९४। उद्विभ्यां तपः १।३।२७।

'अकर्मकात्' इत्येव। उत्तपते। वितपते। दीप्यते इत्यर्थः। 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' (वा० ९१६)। स्वमङ्गं स्वाङ्गम्। न तु 'अद्रवम्—' इति परिभाषितम्। उत्तपते, वितपते पाणिम्। नेह, सुवर्णमुत्तपति, सन्तापयति, विलापयति, वेत्यर्थः। चैत्रो मैत्रस्य पाणिमुत्तपति, सन्तापयतीत्यर्थः।

यहाँ 'अकर्मकात्' २६९३ की अनुवृत्ति होने से इस सूत्र का अर्थ है कि उत् अथवा वि पूर्वक अकर्मक तप धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—उत्तपते। अर्थात् प्रकाशमान होता है। इसी प्रकार वि पूर्वक तप् धातु से आत्मनेपद में वितपते रूप होता है।

स्वाङ्ग कर्म होने से ही तप धातु आत्मनेपदी होता है। यहाँ स्वाङ्ग का अर्थ है—अपना अङ्ग, न कि पारिभाषिक—'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गम्'। उदाहरण है—उत्तपते वितपते वा पाणिम्। अर्थात् हाथ (अङ्ग) को तपाता है। स्वाङ्ग के अभाव में सुवर्णमुत्तपति (सोने को तपाता है)—में आत्मनेपद नहीं हुआ है। इसी तरह चैत्रो मैत्रस्य पाणिमुत्तपति (चैत्र मैत्र के हाथ को तपाता है)—में भी स्वाङ्ग कर्म के अभाव में परस्मैपद हुआ है।

रूपसिद्धि :—

उत्तपते वितपते वा पाणिम्—तप् धातु परस्मैपदी है। अतः तपति रूप होता है। यहाँ उत् पूर्वक तप् धातु का प्रयोग है और इसका कर्म अपना अङ्ग (पाणि) है। अतः 'उद्विभ्यां तपः' २६९३ के प्रसङ्ग में आये वार्तिक—'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' से आत्मनेपद का विधान होता है। फलतः 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर 'उत्तपते वितपते पाणिम्' प्रयोग होता है। अर्थात् हाथ को तपाता है।

सुवर्णमुत्तपति—उत् पूर्वक तप् धातु के रहने पर 'उद्विभ्यां तपः' २६९४ से आत्मनेपद होने पर उत्तपते रूप होता है। इस प्रसङ्ग में वार्तिक है—'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्'। अर्थात् अपना अंग रहने पर ही आत्मनेपद होता है। अतः 'सुवर्णमुत्तपति'—में 'सुवर्ण जो कर्म है, अपना अंग नहीं है। अतः यहाँ आत्मनेपद नहीं होने पर 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर 'तिप्' प्रत्यय में उत्तपति रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—सुवर्णमुत्तपति। अर्थात् सोना को तपाता है।

'चैत्रो मित्रस्य पाणिमुत्तपति'—यहाँ उत् पूर्वक तप् धातु से 'उद्विभ्यां तपः' २६९४ से आत्मनेपद नहीं होता है। यहाँ कर्म (हाथ) दूसरे (मित्र) का अंग है अतः आत्मनेपद नहीं होने पर 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय आने से उत्तपति रूप बनता है।

२६९५। आङो यमहनः १।३।२८

आयच्छते। आहते। अकर्मकात्स्वाङ्गकर्मकादित्येव। नेह—परस्य शिर आहन्ति। कथं तर्हि—'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' इति भारविः ? 'आहध्वं मा रघूत्तमम्' इति भट्टिश्च। प्रमाद एवायम् इति भागवृत्तिः। प्राप्येत्यध्याहारो वा। ल्यब्लोपे पञ्चमीति तु ल्यबन्तं विनैव तदर्थावगतिर्यत्र तद्विषयम्। 'भेत्तुम्' इत्यादि तुमुन्नन्ताध्याहारो वास्तु, समीपमेत्येति वा।

यहाँ 'अकर्मकाच्च' २६९३ से 'अकर्मकात्' की तथा 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' से 'स्वाङ्गकर्मकात्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि आङ् पूर्वक यम् धातु एवं हन् धातु यदि अकर्मक रहे अथवा अपना ही अङ्ग कर्म रहे तब वह आत्मनेपदी हो जाता है। यथा—आयच्छते रज्जुः (रस्सी लम्बी होती है)। आयच्छते पादम् (अपने पैर को लम्बा करता है)। इन उदाहरणों में प्रथम अकर्मक है तथा दूसरा स्वाङ्ग कर्म है। अतः इनमें आत्मनेपद हुआ है। हन् धातु का उदाहरण स्वाङ्ग कर्म में है—आहते उदरम् (अपने पेट को पीटता है)।

स्वाङ्ग कर्म के अभाव में आत्मनेपद नहीं होता है। जैसे—'परस्य शिर आहन्ति' (दूसरे के सिर को पीटता है)।

यहाँ प्रश्न उठता है कि भारवि के 'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' एवम् भट्टि के 'आहध्वम् मा रघूत्तमम्' पद्य में आहनन क्रिया का कर्म दूसरे का अङ्ग है तो यहाँ आत्मनेपद प्रयोग कैसे हुआ ? इसके उत्तर में भागवृत्ति आचार्य का मत है कि ये प्रयोग प्रमाद वश हैं। ये व्याकरणसम्मत नहीं हैं। दूसरा मत है कि 'प्राप्य' (प्र+आप्+ल्यप्) का अध्याहार किया जाना उचित है। अतः 'विषमविलोचनस्य वक्षः प्राप्य आत्मनः वक्ष आजघ्ने' (शङ्कर के पास जाकर अर्जुन ने अपने वक्ष को पीटा)—ऐसा अर्थ करने पर स्वाङ्गकर्मक ताडन में आत्मनेपद निर्बाध हो जायेगा। इसी तरह 'रघूत्तमम् प्राप्य मा आहध्वम्' ऐसा अर्थ करने पर दोष नहीं होगा। यद्यपि हनन क्रिया के कर्म शिव के वक्ष तथा रघु हैं फिर भी उस रूप में विवक्षा नहीं करने से यहाँ अकर्मकत्व है। कुछ परिस्थितियों में सकर्मक क्रिया भी अकर्मक हो जाती है (इस पर विस्तार से विवेचन आगे करेंगे 'वेत्तेर्विभाषा (२७०१) के प्रसङ्ग में)।

यहाँ 'प्राप्य' का अध्याहार करने पर भी 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' से पञ्चमी नहीं हुई क्योंकि इससे पञ्चमी वहीं होती है जहाँ अर्थ का अध्याहार कर ल्यबन्त (ल्यप् जिसके अन्त में हो) अर्थ की तद्विषयक अवगति हो। यहाँ तो ल्यबन्त शब्द (प्राप्य) का अध्याहार किया गया है। अतः पञ्चमी नहीं हुई। अथवा 'भेत्तुम्' इस तुमुन् प्रत्ययान्त के अध्याहार का

आकर्षण होगा। अतः 'विषमविलोचनस्य वक्षः भेत्तुम् आजघ्ने'—ऐसा अन्वय करने पर आत्मनेपद विधान में कोई बाधा नहीं होगी।

अथवा 'समीपमेत्य' का अध्याहार उचित है। 'विषमविलोचनस्य समीपमेत्य निजमेव वक्षः मल्ल इव वीरावेशादास्फालयाञ्चक्रे (शिवजी के पास जाकर अपनी ही छाती ठोक कर वीरता की सूचना दी)—ऐसा अर्थ करने पर स्वाङ्ग कर्म होने से आत्मनेपद का निर्वाह हो जाता है।

रूपसिद्धि :—

आयच्छते—'यम उपरमे' १०५३ धातु परस्मैपदी है। अतः यच्छति रूप होता है, किन्तु आङ् पूर्वक यम् धातु से अकर्मक अर्थ में 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में 'इषुगमियमां छः' २४०० से 'म्' का 'छ्' आदेश होकर 'छे च' से 'तुक्' का आगम एवं श्चुत्व के बाद 'यच्छ' 'त' की स्थिति में 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर आयच्छते पद बनता है। इसका अर्थ है—लम्बा होता है। अतः क्रिया अकर्मक है।

आहते—हन् धातु परस्मैपदी है। अतः हन्ति रूप होता है, किन्तु आङ् पूर्वक हन् धातु से स्वाङ्ग कर्मक अर्थ में 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आता है। 'न्' का लोप एवं टि (अ) का एत्व होने पर आहते पद बनता है। वाक्य होता है—आहते उदरम् (अपने पेट को पीटता है)।

परस्य शिर आहन्ति—

यहाँ आङ् पूर्वक हन् धातु का प्रयोग है तथा दूसरे के सिर को आहत करना अर्थ है अतः 'आङो यमहनः' २६९५ के सन्दर्भ में आये—'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्'—इस वार्तिक के अनुसार स्वाङ्गकर्म होने पर ही आत्मनेपद होता है। फलतः उसके अभाव में यहाँ पराङ्ग कर्म (सिर) होने से आत्मनेपद नहीं होता है, किन्तु शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर 'तिप्' प्रत्यय में आहन्ति रूप होता है।

२६९६। आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् २।२।४४

हनो वधादेशो वा लुङि आत्मनेपदेषु परेषु। आवधिष्ट। आवधिषाताम्।

यहाँ 'हनो वध लिङि' से 'हनो वध' की एवम् 'लुङि च' से 'लुङि' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि आत्मनेपदी प्रत्यय के पर में रहने से 'हन्' का विकल्प से 'वध' आदेश हो जाता है। उदाहरण है—आवधिष्ट। पक्ष में वध आदेश नहीं होने पर आहषत प्रयोग होता है।

रूपसिद्धि :—

आवधिष्ट—आङ् पूर्वक हन् धातु से 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मनेपद होने पर लुङ् लकार में 'त' प्रत्यय आता है। 'च्लि लुङि' २२२१ से 'च्लि' के आने पर 'च्लेः सिच्'

२२२२ से सिच् (स्) आदेश के बाद 'इट्' आगम होने से 'आ वध् इ स् त' की स्थिति में षत्व एवं ष्टुत्व होकर आवधिष्ट रूप होता है।

विकल्प पक्ष में 'हन्' का 'वध' आदेश नहीं होने पर 'न्' के लोप के बाद आहषत प्रयोग होता है।

२६९७। हनः सिच् १।२।१४

कित्स्यात्। अनुनासिकलोपः। आहत। आहसाताम्। आहसत।

यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' २२४२ से 'कित्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि हन् धातु से परे सिच् कित् होता है। इसका उदाहरण है—आहत। आहसाताम् आदि।

रूपसिद्धि :—

आहत—हन् धातु से पूर्व में आङ् का प्रयोग रहने पर 'आङो यमहनः' २६५५ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में विकल्प पक्ष में 'हन' का 'वध' आदेश नहीं होने से 'सिच्' के कित् होने के कारण 'अनुदात्तोपदेश वनति'—से अनुनासिक (न्) लोप के बाद सिच् का लोप होकर आहत रूप बनता है।

२६९८। यमो गन्धने १।२।१५

सिच् कित् स्यात्। गन्धनं सूचनं परदोषाविष्करणम्। उदायत। गन्धने किम्? उदायंस्त पादम्। आकृष्टवानित्यर्थः।

यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' २२४२ से 'कित्' की तथा 'हनः सिच्' २६९६ से 'सिच्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि गन्धन अर्थ में प्रयुक्त यम् धातु से परे सिच् कित् होता है। गन्धन का अर्थ है—दूसरे के दोष को प्रकाश में लाना। उत् एवम् आङ् पूर्वक यम् धातु से लुङ् लकार में त प्रत्यय में सिच् के कित् होने से मकारलोप होकर उदायत प्रयोग होता है।

गन्धन अर्थ नहीं रहने पर सिच् के कित् नहीं होने से 'म्' का अनुस्वार होकर उदायंस्त रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—उदायंस्त पादम्=पैर को खींचा।

रूपसिद्धि :—

उदायत—उत् एवम् आङ् पूर्वक यम् धातु से 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मने 'उत् आ अ यम् स् त' पद होने पर लुङ् लकार में 'त' प्रत्यय होने पर धातु के पूर्व अडागम तथा धातु के बाद सिच् (स्) के आगम के बाद 'उत् आ अ यम् स त' की स्थिति में यम् धातु का अर्थ परदोष प्रकटन होने से 'यमो गन्धने' से सिच् का कित् हो जाने के कारण 'अनुदात्तोपदेश वनति—' २४२८ से अनुनासिक (म्) का लोप होकर 'झलो झलि' से 'स्' लोप के बाद उदायत रूप होता है। इसका अर्थ है—दूसरे के दोष को प्रकाशित कर चुका है।

उदायंस्त—उत्+आङ् पूर्वक यम् धातु से 'आङो यमहनः' २६९५ से आत्मनेपद होने पर लुङ् लकार में 'त' प्रत्यय में 'च्लि लुङि' से 'च्लि' का आगम होने पर 'च्लेः सिच्'

से 'सिच्' (स्) होने पर 'उत् आ यम् स् त' की स्थिति में उत् + आङ् पूर्वक यम् धातु का अर्थ—पैर ऊपर उठाना (गन्धन या पर दोष प्रकटन नहीं) होने से 'यमो गन्धने' से सिच् के कित् नहीं होने पर 'अनुदात्तोपदेश—' २४२८ से अनुनासिक (म्) का एवं 'झलो झलि' से 'स्' का लोप नहीं होने के कारण 'म्' का अनुस्वार होकर उदायंस्त रूप बना है। इसका अर्थ है—पैर को ऊपर खींचा।

२६९९। समो गम्यृच्छिभ्याम् १।३।२९।

अकर्मकाभ्याम् इत्येव। सङ्गच्छते।

यहाँ 'अकर्मकाच्च' से 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि अकर्मक सम् पूर्वक गम् धातु से तथा ऋच्छ धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—सङ्गच्छते।

रूपसिद्धि :—

सङ्गच्छते—सम् पूर्वक गम् धातु का अर्थ यहाँ संगत होना है जो अकर्मक क्रिया है। अतः 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' २६९९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'सम् गम् त' की स्थिति में 'इषुगमियमां छः' २४०० से 'गम्' के 'म्' का 'छ' आदेश तथा तुक् एवं श्चुत्व होने पर 'सम्' के 'म्' का 'मोऽनुस्वारः' १२२ से अनुस्वार होने पर 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' १२४ से परसवर्ण (ङ्) होने के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२२३ से टि (अ) का एत्व होने पर सङ्गच्छते पद बनता है। अर्थात् संगम करती है।

२७००। वा गमः १।२।१३।

गमः परौ झलादी लिङ्सिचौ वा कितौ स्तः। सङ्गसीष्ट, सङ्गंसीष्ट। समगत, समगंस्त। समृच्छते। समृच्छिष्यते। अकर्मकाभ्यां किम्? ग्रामं संगच्छति। 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' (वा० ९१८)। वेत्तेरेव ग्रहणम्। संवित्ते। संविदाते।

यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' २२४२ से 'कित्' की तथा 'इको झल्' २६१२ से 'झल्' की अनुवृत्ति होती है तथा 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' २३०० का ग्रहण होता है। अतः सूत्रार्थ है—कि गम् धातु से परवर्ती झलादि लिङ्—सिच् आत्मनेपद में विकल्प से कित् होते हैं। इसका उदाहरण है—संगसीष्ट। विकल्प पक्ष में कित् नहीं होने पर 'म्' का अनुस्वार हो जाने से संगंसीष्ट प्रयोग होता है।

सम् पूर्वक गम् धातु से लुङ् लकार के 'त' प्रत्यय का उदाहण है—समगत, समगंस्त। सम् पूर्वक ऋच्छ धातु से आत्मनेपद होने से लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'स्यतासी ललुटोः' २१८६ से 'स्य' आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर समृच्छिष्यते रूप बना है। इसका अर्थ है—इन्द्रियों को वश में करेगा।

सूत्र में 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति के कारण सकर्मक सम् पूर्वक गम् धातु के रहने से परस्मैपद ही होता है। यथा—ग्रामं सङ्गच्छति = गाँव जाता है।

सम् पूर्वक विद्, प्रच्छ् और स्वृ धातु से आत्मनेपद होता है। 'विद्' से यहाँ अदादि गण का 'विद् ज्ञाने' धातु का ग्रहण है क्योंकि 'विद् विचारणे' और 'विद् सतायाम्' धातु अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी होता ही है। सम् पूर्वक 'विद् ज्ञाने' धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर संवित्ते रूप होता है। 'आताम्' प्रत्यय-में संविदाते प्रयोग बनता है।

रूपसिद्धि :—

संगसीष्ट—सम् पूर्वक गम् धातु से 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' से आत्मनेपद होने पर लुङ् लकार में 'त' प्रत्यय में सिच् (स्) होने पर 'वा गमः' २७०० से विकल्प से सिच् का कित् होने से 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्' २४४८ से अनुनासिक (म्) लोप के बाद संगसीष्ट रूप होता है। विकल्प पक्ष में कित् नहीं होने पर अनुनासिक लोप नहीं होता है। अतः 'म्' का अनुस्वार होने पर संगंसीष्ट रूप होता है।

समगत—सम् पूर्वक गम् धातु का अर्थ—सम्मेलन या सङ्गम करना (अकर्मक क्रिया) होने पर 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' २६९९ से आत्मनेपद होने से लुङ् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से अडागम तथा सिच् (स्) होकर 'सम् अ गम् स् त' की स्थिति में 'वा गमः' २७०० से विकल्प से कित् होने पर 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोति—' २४४८ से अनुनासिक (म्) का लोप होने से 'ह्रस्वादङ्गात्' २३६९ से सिच् (स्) का लोप होकर समगत प्रयोग होता है।

विकल्प पक्ष में कित् नहीं होने से 'म्' का लोप नहीं होता है एवम् 'स्' का लोप भी नहीं होता है। अतः 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होने पर समगंस्त रूप बनता है।

ग्रामं संगच्छति—सम् पूर्वक गम् धातु का कर्म यहाँ ग्राम है। अतः 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' २६९९ से अकर्मक क्रिया में ही आत्मनेपद का विधान किये जाने के कारण यहाँ इस सूत्र से आत्मनेपद नहीं होता है। अतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय में 'इषुगमियमां छः' २४०० से 'छ' आदेश होने पर 'तुक्' एवं श्चुत्व के बाद अनुस्वार होकर संगच्छति रूप बनता है।

संवित्ते—'विद् ज्ञाने' धातु परस्मैपदी है। अतः लट् के स्थान में 'तिप्' होने पर वेत्ति पद सिद्ध होता है। सम् पूर्वक विद् धातु का प्रयोग होने पर 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्'—इस वार्तिक से आत्मनेपद का विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'सम् विद् त' की स्थिति में चर्त्व तथा अनुस्वार के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर संवित्ते पद बना है।

संविदाते—सम् पूर्वक विद् धातु से 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'आताम्' प्रत्यय होने से संविदाते प्रयोग निष्पन्न होता है।

२७०१ । वेत्तेर्विभाषा ७।१।७ ।

वेत्तेः परस्य झादेशस्यातो रुडागमो वा स्यात्। संविद्रते—संविदते। संविद्रताम्—संविदताम्। समविद्रत—समविदत। संपृच्छते। संस्वरते। 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' (वा० ९२६)। अर्तीति द्वयोर्ग्रहणम्। अङ्विधौ त्वियर्तेरेवेत्युक्तम्। मा समृत, मा समृषाताम्, मा समृषत इति। समार्त, समार्षाताम्, समार्षत इति च भ्वादेः। इयर्तेस्तु मा समरत, मा समरेताम्, मा समरन्त इति। समारत, समारेताम्, समारन्तेति च। संश्रृणुते। संपश्यते। 'अकर्मकात्' इत्येव। अतएव "रक्षांसीति पुरापि संश्रृणुमहे" इति मुरारिप्रयोगः प्रामादिक इत्याहुः। अध्याहारो वा 'इति कथयद्भ्यः' इति। अथास्मिन्नकर्मकाधिकारे हनिगम्यादीनां कथमकर्मकतेति चेत्, शृणु,

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥

वहति भारम्। नदी वहति। स्पन्दते इत्यर्थः। जीवति। नृत्यति। प्रसिद्धेर्यथा—मेघो वर्षति, कर्मणोऽविवक्षातो यथा—'हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः'। 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' (वा० ९२०)। अकर्मकादिति निवृत्तम्। बन्धं निरस्यति, निरस्यते। समूहति, समूहते।

यहाँ 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' २६९९ से 'समः' की और 'झोऽन्तः' २१६९ से 'झः' की तथा 'अदभ्यस्तात्' २९७९ से 'अत्' की एवम् 'शीङो रुट्' २४४२ से 'रुट्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि सम् पूर्वक विद् धातु से विहित 'झ' के स्थान में आदेश भूत 'अत्' के परे विकल्प से 'रुट्' का आगम होता है। यथा—संविद्रते। रुट् का आगम नहीं होने पर संविदते। 'आताम्' प्रत्यय में रुट् होने पर संविद्रताम् एवं रुट् नहीं होने पर संविदताम् प्रयोग होता है।

सम् पूर्वक प्रच्छ धातु से आत्मनेपद में सम्पृच्छते तथा सम् पूर्वक स्वर धातु से आत्मनेपद में संस्वरते होता है। सम् पूर्वक ऋ, श्रु तथा दृश् धातु से आत्मनेपद कहना चाहिये। यहाँ 'ऋ' से 'ऋ गतिप्रापणयोः' तथा 'ऋ गतौ' दोनों धातुओं का ग्रहण है। जब 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' २३८२ से च्लि का 'अङ्' होवे तब 'ऋ गतौ' का ही ग्रहण होता है जिसका रूप इयर्ति होता है। सम् पूर्वक ऋ धातु से आत्मनेपद में लुङ् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'माङ्' के योग में अडागम का निषेध होने से 'मा समृत' रूप होता है। 'आताम्' प्रत्यय में 'मा समृषाताम्' तथा 'झ' प्रत्यय में मा समृषत रूप निष्पन्न होते हैं। माङ् के अभाव में भ्वादि के 'ऋ गतिप्रापणयोः' धातु से समार्त, समार्षाताम् तथा समार्षत—रूप होते हैं।

जुहोत्यादि के 'ऋ गतौ' धातु से 'श्लु' विकरण होने पर 'सर्तिशास्ति—' २३८२ से 'च्लि' का 'अङ्' होने पर 'ऋदृशोऽङि गुणः' २४०६ से गुण होने पर रपरत्व के बाद

मा समरत, मा समरेताम् तथा मा समरन्त आदि प्रयोग बनते हैं। 'माङ्' योग नहीं रहने पर 'आटश्च' से वृद्धि होने पर समारत, समारेताम्, समारन्त आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

सम् पूर्वक श्रु धातु से आत्मनेपद का उदाहरण है—संश्रृणुते। अर्थात् सूक्ष्म शब्द को भी ठीक से सुनता है। सम् पूर्वक दृश् धातु का उदाहरण है—सम्पश्यते। अकर्मक श्रु धातु से ही आत्मनेपद का विधान है। इसलिये—'रक्षांसीति पुराऽपि संश्रृणुहे'—इस मुरारि कवि के पद्यप्रयोग में सकर्मक श्रु धातु से आत्मनेपद प्रयोग की साधुता नहीं है। अतः भट्टोजिदीक्षित इसे प्रामादिक कहते हैं। अथवा 'इति कथयद्भ्यः' का अध्याहार करके काम चलाना उचित मानते हैं। अतः 'रक्षांसीति कथयद्भ्यः पुरा संश्रृणुमहे'—इस प्रकार अन्वय करके कथन क्रिया का कर्म राक्षस (न तो श्रवण क्रिया का कर्म राक्षस) के होने पर आत्मनेपद करने में कोई बाधा नहीं होगी।

इस अकर्मक के अधिकार से हन् एवं गम् को अकर्मकत्व कैसे हुआ ? इस शंका के समाधान में यह कारिका है—'धातोरर्थान्तरे—'

अर्थात् धातु जब अपने प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ का बोध कराये, और धातु के अर्थ में उपसंग्रह होवे अर्थात् क्रिया में कर्म समाहित हो जाये, तथा कर्म की प्रसिद्धि हो, एवम् कर्म की अविवक्षा रहने पर—इन चारों स्थितियों में सकर्मक क्रिया अकर्मक हो जाती है। प्रथम स्थिति का उदाहरण है—भारं वहति (भार ढोता है)। यहाँ 'वह प्रापणे' धातु सकर्मक है, किन्तु नदी वहति (नदी बहती है) में वहना क्रिया अकर्मक है। इसका अर्थ है—प्रवाहित होना। जीव धातु का अर्थ है—प्राण धारण करना। यहाँ प्राण रूप कर्म धात्वर्थ में समाहित है। अतः जीव धातु अकर्मक है। इसी तरह नृत् धातु का अर्थ गात्र विक्षेपण है। गात्ररूप कर्म धात्वर्थ में समाहित है। अतः नृत् धातु अकर्मक है। मेघः वर्षति में वर्ष धातु का कर्म जल है। वर्षा से जल की वृष्टि प्रसिद्ध है। अतः वर्ष धातु अकर्मक है। कर्म की अविवक्षा का उदाहरण है—'हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः'। यहाँ वचन रूप कर्म की अविवक्षा से श्रु धातु अकर्मक है। इसलिये श्रु धातु से आत्मनेपद हुआ है।

उपसर्ग से परे अस् धातु एवम् ऊह धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है। अकर्मक का अधिकार नहीं रहा। इसका उदाहरण है—निरस्यति निरस्यते वा बन्धम्। अर्थात् गाँठ खोलता है। ऊह का उदाहरण है—समूहति, समूहते। अर्थात् उचित तर्क करता है।

रूपसिद्धि :—

संविद्रते—सम् पूर्वक विद् धातु से आत्मनेपद का विधान 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक से होने पर लट् लकार में 'झ' प्रत्यय होने से 'अदभ्यस्तात्' २४७९ से 'झ' का 'अत्' आदेश होने से 'वेत्तेर्विभाषा' २७०१ से 'अत्' के बाद 'रुट्' (र्) का आगम विकल्प से होकर एत्व होने पर 'मोऽनुस्वारः' १२२ से 'म्' का अनुस्वार होने पर संविद्रते रूप बनता है।

पक्ष में रुट् नहीं होने पर संविदते प्रयोग होता है।

संपृच्छते—प्रच्छ धातु परस्मैपदी है। अतः पृच्छति रूप होता है किन्तु सम् पूर्वक प्रच्छ धातु से 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' वार्तिक से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर अनुस्वार के बाद संपृच्छते पद बना है।

संशृणुते—श्रु धातु परस्मैपदी है। अतः शृणोति रूप होता है। सम् पूर्वक श्रु धातु के रहने पर 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने के बाद 'स्वादिभ्यः श्नुः' से 'श्नु (नु) आने पर 'श्रु वः शृ च' २३८६ से 'श्रु' का 'शृ' आदेश होने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होकर संशृणुते पद बनता है।

'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से अकर्मक श्रु धातु से ही आत्मनेपद का विधान होता है। यद्यपि श्रु धातु सकर्मक है, किन्तु कर्म की अविवक्षा के कारण अकर्मक होने से 'हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः' इस वाक्य में आत्मनेपद हुआ है।

संपश्यते—दृश् धातु परस्मैपदी है। अतः पश्यति रूप होता है, किन्तु सम् पूर्वक दृश् धातु के रहने पर 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्'—इस वार्तिक से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'पाघ्राध्मास्था—' २३६० से दृश् का 'पश्य' आदेश के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर 'म्' का अनुस्वार होकर संपश्यते प्रयोग होता है।

दृश् धातु के सकर्मक होने पर भी कर्म की अविवक्षा के कारण अकर्मक होने की स्थिति में यहाँ आत्मनेपद हुआ है।

२७०२। उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः ७।४।२३।

यादौ क्ङिति। ब्रह्म समुह्यात्। अग्निं समुह्य।

यहाँ 'अयङ् यि क्ङिति' २६४९ की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ है—यकारादि कित् या ङित् प्रत्ययों के परे रहते उपसर्ग पूर्वक ऊह् धातु का ह्रस्व हो जाता है। यथा—ब्रह्म समुह्यात्। अर्थात् ब्रह्म के विषय में तर्क बढ़ता जाये। अग्निं समुह्य—अग्नि के चारों तरफ शुद्ध करके।

रूपसिद्धि :—

समुह्यात्—सम् पूर्वक 'ऊह वितर्के' धातु से आशीर्लिङ् में 'तिप्' प्रत्यय होने पर 'किदाशिषि' २२१६ से 'यासुट्' प्रत्यय होने पर 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ३८० से सकार लोप के बाद 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' २७०२ से धातु का ह्रस्व होने पर समुह्यात् पद सिद्ध होता है।

समुह्य—सम् पूर्वक ऊह धातु से ल्यप् प्रत्यय होने पर धातु का ह्रस्व 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' से होने के बाद समुह्य पद बनता है।

२७०३ । निसमुपविभ्यो ह्वः १।३।३० ।

निह्वयते ।

नि, सम्, उप तथा वि उपसर्ग पूर्वक ह्वेञ् धातु से आत्मने पद होता है। जैसे—
नि + ह्वेञ् + त = निह्वयते ।

ह्वेञ् धातु के ञित् होने से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से कर्तृगामी क्रियाफल होने पर आत्मनेपद सिद्ध था। अतः परगामी क्रियाफल के अर्थ में आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र है ।

रूपसिद्धि :—**निह्वयते** ।

नि उपसर्ग पूर्वक 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' धातु से 'निसमुपविभ्यो ह्वः' १७०३ से आत्मनेपद विधान होने पर 'त' प्रत्यय आने से 'शप्' विकरण होने के बाद अयादेश होकर 'टित् आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर निह्वयते प्रयोग बना है।

२७०४ । **स्पर्धायामाङः** १।३।३१ ।

कृष्णश्चाणूरमाह्वयते । स्पर्धायां किम् ? पुत्रमाह्वयति ।

यहाँ 'निसमुपविभ्यो ह्वः' से 'ह्वः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि आङ् पूर्वक ह्वेञ् धातु स्पर्धा अर्थ में हो तो आत्मनेपदी हो जाता है । जैसे—कृष्णश्चाणूरमाह्वयते = कृष्ण चाणूर को पराजित करने की इच्छा (स्पर्धा) से बुलाते हैं ।

स्पर्धा अर्थ नहीं रहने पर परस्मैपद ही होता है परगामी क्रिया फल के अर्थ में। जैसे—पुत्रमाह्वयति = खाने के लिये पुत्र को पिता बुलाता है ।

रूपसिद्धि :—

कृष्णश्चाणूरमाह्वयते—आङ् उपसर्ग पूर्वक 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' धातु से स्पर्धा अर्थ में परगामी क्रिया फल रहने पर 'स्पर्धायामाङः' २७०४ से आत्मनेपद होता है । कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर तो धातु के ञित् होने के कारण 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से ही आत्मनेपद सिद्ध है । ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय आने पर शप् (अ) विकरण के बाद अयादेश होकर टि (अ) का एत्व होने पर आह्वयते प्रयोग होता है ।

२७०५ । **गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः** १।३।३२ ।

गन्धनं हिंसा । उत्कुरुते । सूचयतीत्यर्थः । सूचनं हि प्राणिवियोगानुकूल-त्वाद्धिंसैव । अवक्षेपणं भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते, भर्त्सयतीत्यर्थः । हरिमुप-कुरुते, सेवते । परदारान् प्रकुरुते, तेषु सहसा प्रवर्तते । एधोदकस्योपस्कुरुते, गुणमाधत्ते । गाथाः प्रकुरुते, प्रकथयति । शतं प्रकुरुते, धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति ।

गन्धन = हिंसा, अवक्षेपण = फटकार, सेवन, साहसिक कार्य, प्रतियत्न = गुण ग्रहण, प्रकथन = प्रशंसा तथा उपयोग अर्थ रहने पर उपसर्ग युक्त कृ धातु से आत्मनेपद होता है ।

गन्धन का अर्थ हिंसा है। उदाहरण है—उत्कुरुते। अर्थात् दूसरे के दोष को प्रकट करता है या चुगली करता है। प्राणवियोगजनक व्यापार को हिंसा कहते हैं। चुगली या पिशुनता भी हिंसा है क्योंकि जिसकी चुगली की जाती है उसके हृदय में कष्ट होता है।

अवक्षेपण का अर्थ है—भर्त्सना। इसका उदाहरण है—श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते= बाज बटेर को घुड़कता है। सेवन अर्थ में—हरिम् उपकुरुते=हरि की सेवा करता है। साहस प्रयुक्त—परदारान् प्रकुरुते=दूसरे की स्त्रियों को साहस पूर्वक वश में करता है। प्रतियत्न—एधो दकस्य उपस्कुरुते एध (काठ) दक (जल) के गुण को धारण करता है। प्रकथन—गाथाः प्रकुरुते=गुणगान करता है। उपयोग—शतं प्रकुरुते=धर्म के लिये सौ रुपये जमा करता है।

उपर्युक्त गन्धन आदि अर्थों में ही आत्मनेपद होता है। अतः कटं करोति में आत्मनेपद नहीं हुआ।

रूपसिद्धि :—

उत्कुरुते—उत्पूर्वक कृ धातु का अर्थ यहाँ पिशुनता या चुगली करना है। जिससे निन्दित व्यक्ति को दुःख पहुँचने से हिंसा होती है। अतः गन्धन या हिंसा अर्थ की अभिव्यक्ति होने से 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः' २७०५ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से एत्व होने पर उत्कुरुते रूप बनता है।

उदाकुरुते—उत्+आङ् पूर्वक कृ धातु का अर्थ अवक्षेपण या भर्त्सना करना है। अतः 'गधनावक्षेपणसेवन—' २७०५ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होकर उदाकुरुते पद बनता है। वाक्य प्रयोग है—श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते। अर्थात् बाज बटेर को घुड़कता है।

परदारान् प्रकुरुते—साहसिक कार्य (परायी स्त्री को अपने वश में करना) के अर्थ में प्र पूर्वक कृ धातु से 'गन्धनावक्षेपणसाहसिक्य—' २७०५ से आत्मनेपद होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व करके प्रकुरुते पद होता है।

एधोदकस्योपस्कुरुते—प्रतियत्न (दूसरे का गुण ग्रहण करना) अर्थ में उप पूर्वक कृ धातु से 'गन्धनावक्षेपण—' २७०५ से आत्मनेपद विधान होने पर 'त' प्रत्यय में टि (अ) का एत्व होने पर धातु के पूर्व 'सुट्' का आगम होने पर उपस्कुरुते पद बनता है। वाक्य प्रयोग है—एधोदकस्योपस्कुरुते। एध का अर्थ है—काठ तथा दक का अर्थ है जल। अतः वाक्य का अर्थ होता है—काठ जल के गुण को ग्रहण करता है।

२७०६। अधेः प्रसहने १।३।३३।

प्रसहनं क्षमाभिभवश्च, 'षह मर्षणेऽभिभवे च' इति पाठात्। शत्रुमधिकुरुते। क्षमते इत्यर्थः, अभिभवतीति वा।

यहाँ 'गन्धनावक्षेपण—'२७०५ से 'कृञः' की अनुवृत्ति होने से सूत्र का अर्थ है कि अधि उपसर्ग से युक्त कृ धातु से प्रसहन या अभिभव अर्थ में आत्मनेपद होता है। 'सह' धातु का अर्थ सहन करना या दूसरे को परास्त करना है। इसका उदाहरण है—शत्रुमधिकुरुते। अर्थात् दुश्मन को सहन करता है या परास्त करता है।

रूपसिद्धि :—

शत्रुमधिकुरुते—प्रसहन या अभिभव अर्थ में अधि पूर्वक कृ धातु का प्रयोग रहने पर 'अधेः प्रसहने' से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय में टि (अ) का एत्व होकर अधिकुरुते पद बनता है। वाक्य प्रयोग है—शत्रुमधिकुरुते अर्थात् दुश्मन को हराता है।

२७०७। वेः शब्दकर्मणः १।३।३४।

स्वरान् विकुरुते, उच्चारयतीत्यर्थः। शब्दकर्मणः किम्? चित्तं विकरोति कामः।

'गन्धनावक्षेपण—' २७०५ से 'कृञः' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र का अर्थ है कि कर्म के रूप में शब्द का प्रयोग रहने पर वि पूर्वक कृ धातु से आत्मनेपद हो जाता है। जैसे—स्वरान् विकुरुते अर्थात् स्वर (शब्द) का उच्चारण करता है। जहाँ शब्द कर्म के रूप में प्रयुक्त नहीं हो वहाँ परस्मैपद होता है। जैसे—चित्तं विकरोति कामः, अर्थात् कामदेव चित्त को विकारयुक्त बनाता है।

रूपसिद्धि :—

स्वरान् विकुरुते—परगामी क्रियाफल रहने पर या सामान्यप्रयोग में कृ धातु परस्मैपदी है। अतः करोति रूप होता है। वि उपसर्ग पूर्वक कृ धातु का कर्म यदि शब्द हो तब 'वेः शब्दकर्मणः' २७०८ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने पर विकुरुते पद बनता है।

चित्तं विकरोति कामः—वि उपसर्ग पूर्वक कृ धातु का कर्म जब शब्द रहता है तब 'वेः शब्दकर्मणः' से कृ धातु आत्मनेपदी हो जाता है। इसका उदाहरण है—स्वरान् विकुरुते।

इसलिये कृ धातु का कर्म जब शब्द नहीं रहता है तब आत्मनेपद नहीं होता है। यथा—चित्तं विकरोति कामः। अर्थात् कामदेव चित को विकृत करता है। यहाँ वि पूर्वक कृ धातु का कर्म चित्त है। अतः 'वेः शब्दकर्मणः' २७०८ से आत्मनेपद नहीं होने से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय में विकरोति रूप होता है।

२७०८। अकर्मकाच्च १।३।३५।

'वेः कृञः' इत्येव। छात्राः विकुर्वते, विकारं लभन्ते।

'गन्धनावक्षेपण—'२७०५ से 'कृञः' एवम् 'वेः शब्दकर्मणः' २७०७ से 'वेः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ है कि अकर्मक वि पूर्वक कृ धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—छात्राः विकुर्वते (छात्र विकृत होते हैं)।

रूपसिद्धि :—

छात्राः विकुर्वते—यहाँ वि पूर्वक कृ धातु से आत्मनेपद 'अकर्मकाच्च' २७०८ से होता है क्योंकि छात्रों का विकृत होना—यह अकर्मक क्रिया है। आत्मनेपद होने पर 'झ' प्रत्यय आने से उसका 'अत्' आदेश तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर विकुर्वते प्रयोग बना है। अतः छात्राः विकुर्वते—यह वाक्य प्रयोग है।

२७०९। सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः १।३।३६।

अत्रोत्सञ्जनज्ञानविगणनव्ययाः नयतेर्वाच्या, इतरे प्रयोगोपाधयः। तथा हि—शास्त्रे नयते। शास्त्रस्थं सिद्धान्तं शिष्येभ्यः प्रापयतीत्यर्थः। तेन च शिष्यसम्माननं फलितम्। उत्सञ्जने—दण्डमुन्नयते। उत्क्षिपतीत्यर्थः। माणवकमुपनयते। विधिना आत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेन हि उपनेतरि आचार्यत्वं क्रियते। ज्ञाने, तत्त्वं नयते। निश्चिनोतीत्यर्थः। कर्मकरानुपनयते। भृतिदानेन स्वसमीपं प्रापयतीत्यर्थः विगणनमृणादेर्निर्यातनम्। करं विनयते। राज्ञे देयं भागं परिशोधयतीत्यर्थः। शतं विनयते। धर्मार्थं विनियुङ्क्ते इत्यर्थः।

सम्मानन, उत्सञ्जन, आचार्यकरण, ज्ञान, भृति, विगणन तथा व्यय अर्थों में प्रयुक्त नी धातु से आत्मनेपद होता है। परगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपद विधान का यह सूत्र है। कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से आत्मनेपद सिद्ध है। उत्सञ्जन, ज्ञान, विगणन और व्यय—ये नी धातु के वाच्य अर्थ हैं। शेष—सम्मानन, आचार्यकरण तथा भृति अर्थ प्रयोग के अनुसार जाने जाते हैं। अतः वे फलितार्थ होते हैं। वाच्यत्व के अभाव में भी अर्थ की सत्ता मात्र से शब्दप्रयोग में निमित्त होते हैं।

सम्मानन (समादर) का उदाहरण है—शास्त्रे नयते। अर्थात् शास्त्रीय सिद्धान्तों को शिष्यों तक पहुँचाता है। नी धातु प्रापणार्थक है। सिद्धान्त का आधार शास्त्र है। अतः उसमें सप्तमी हुई। सिद्धान्तों के ज्ञान से शिष्यों का सम्मान समाज में बढ़ता है। अतः शिष्य का सम्मानन रूप अर्थ यहाँ फलित है।

उत्सञ्जन का अर्थ है—उठाना। इसका उदाहरण है—दण्डमुन्नयते। अर्थात् डन्डा को ऊपर फेंकता है। उत्पूर्वक नी धातु का वाच्यार्थ है—उठाना या ऊपर ले जाना। आचार्य करण का उदाहरण है—माणवकमुपनयते। अर्थात् मनुष्य को शास्त्रीय विधि से आत्म-निकटता को प्राप्त कराते हैं। आचार्य यज्ञोपवीत प्रदान करके उसे वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कराते हैं। इसी में उनका आचार्यत्व है, केवल उपनयन मात्र से नहीं। अतः आचार्य का लक्षण है—

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥' (मनुस्मृति २-१४०)

यहाँ आचार्यकरण उपनयन का साध्य है। इसलिए अर्थतः प्रापण फलित है।

ज्ञान का उदाहरण है—तत्त्वं नयते। अर्थात् तत्त्व का निश्चय करता है। यहाँ नी धातु का प्रापण अर्थ वाच्य है।

भृति अर्थ में, यथा—कर्मकरानुपनयते। अर्थात् वेतन पर सेवा कार्य के लिये भृत्यों को अपने पास रखता है। भृति का अर्थ है—वेतन। उसके लिये कर्म करने वाला कर्मकर हुआ। उप पूर्वक नी धातु का अर्थ सामीप्य प्राप्त करना है। सामीप्य-प्राप्ति का माध्यम वेतन है। अतः नी धातु का यह फलितार्थ है।

विगणन का अर्थ है—ऋण आदि का चुकाना या उसके लिये पैसे गिनना। इसका उदाहरण है—करं विनयते। अर्थात् राजा को देय कर चुकाने के लिये पैसा गिनता है। यहाँ नी का प्रापण अर्थ वाच्य है।

व्यय (खर्च) का उदाहरण है—शतं विनयते। अर्थात् धर्म के लिये सौ रुपये खर्च करता है। यहाँ वि पूर्वक नी धातु व्ययार्थक है।

रूपसिद्धि :—

शास्त्रे नयते—'णीञ् प्रापणे' धातु परगामी क्रियाफल रहने पर परस्मैपदी होता है। अतः तिप् प्रत्यय में नयति रूप होता है। नी धातु का अर्थ जब सम्मानन, उत्सञ्जन आदि हो तब 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' २७०९ से नी धातु आत्मनेपदी हो जाता है। शास्त्रे नयते का अर्थ है—शास्त्रगत सिद्धान्तों को शिष्य तक पहुँचाता है। शास्त्र के ज्ञान से शिष्य की प्रतिष्ठा लोगों में बढ़ती है। अतः सम्मान अर्थ के फलितार्थ कथन के कारण 'सम्माननोत्सञ्जन—'२७०९ से यहाँ आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'शप्' (अ) के बाद 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' २१६८ से धातु का गुण होने पर अयादेश के अनन्तर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व हो जाने से नयते प्रयोग बना है।

दण्डमुन्नयते—प्रापणार्थक नी धातु परगामी क्रियाफल रहने पर परस्मैपदी है, किन्तु उत् पूर्वक नी धातु का अर्थ उत्सञ्जन = ऊपर ले जाना हो तब 'सम्माननोत्सञ्जना-चार्यकरण—'२७०९ से आत्मनेपद हो जाने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर टि (अ) का एत्व होने पर उन्नयते प्रयोग होता है। अर्थात् ऊपर फेंकता है (डण्डा को)।

माणवकमुपनयते—उप पूर्वक नी धातु का अर्थ है—समीप ले जाना। आचार्य शिष्य को उपनयन (सामीप्य प्राप्ति कराने) के बाद वेद-शास्त्रादि का ज्ञान प्राप्त कराता है क्योंकि आचार्य का आचार्यत्व केवल उपनयन (समीप लाना) से नहीं, किन्तु वेद-वेदाङ्गादि के अध्यापन से है। अतः आचार्यकरण अर्थ में 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' २७०९ से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'नी त' की स्थिति में शप् (अ) के बाद गुण एवम् अयादेश होने पर टि (अ) का एत्व होने पर

उपनयते प्रयोग बनता है। अतः वाक्य प्रयोग है—माणवकमुपनयते। यहाँ प्रापण अर्थ फलितार्थ है।

तत्त्वं नयते—यहाँ नी धातु का अर्थ है—ज्ञान या निश्चय करना। अतः इस अर्थ में 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' २७०९ से आत्मनेपद विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर शप् (अ) विकरण के बाद गुण तथा अय् आदेश एवम् एत्व होने पर नयते पद सिद्ध होता है। नी धातु का निश्चय अर्थ वाच्य है।

कर्मकरानुपनयते—यहाँ उपनयते का अर्थ है—भृतिदानेन सामीप्यं प्रापयति। अर्थात् जीविका या वेतन दान पूर्वक अपने समीप रखता है। यहाँ 'नी' का अर्थ 'भृति होने से 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' २७०९ से आत्मनेपद-विधान होने पर उप् पूर्वक नी धातु से 'त' प्रत्यय आने से 'शप्' के बाद गुण अयादेश तथा एत्व होने पर उपनयते रूप बनता है। यहाँ नी धातु का प्रापण अर्थ फलितार्थ है।

करं विनयते—इस वाक्य का अर्थ है—कर चुकाने के लिये मुद्रा गिनता है। वि पूर्वक नी धातु का विगणन अर्थ होने से यहाँ 'सम्माननोत्सञ्जन—' २७०९ से नी धातु के आत्मनेपदी हो जाने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय आने से शप् एवं गुण तथा अयादेश के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर विनयते रूप बनता है। यहाँ विगणन अर्थ नी धातु का वाच्यार्थ है।

शतं विनयते—इस वाक्य का अर्थ है—धर्म कार्य के लिये सौ रुपये व्यय करता है। वि पूर्वक नी धातु का अर्थ—व्यय होने से यहाँ 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण—' २७०९ से नी धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर शप् के बाद गुण तथा अयादेश होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर विनयते पद सिद्ध होता है। यहाँ नी धातु का—अर्थ व्यय वाच्यार्थ है।

२७१०। कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि १।३।३०।

नियः कर्तृस्थे कर्मणि यदात्मनेपदं प्राप्तं तच्छरीरावयवे भिन्ने एव स्यात्। सूत्रे शरीरशब्देन तदवयवो लक्ष्यते। क्रोधं विनयते, अपगमयति। तत्फलस्य चित्तप्रसादस्य कर्तृगतत्वात् 'स्वरितञितः—' (सू० २१५८) इत्येव सिद्धे नियमार्थमिदम्। तेनेह न—गड़ुं विनयति। कथं तर्हि 'विगणय्य नयन्ति पौरुषम्' इति? कर्तृगामित्वाविवक्षायां भविष्यति।

'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' २७०९ से 'नियः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि नी धातु से कर्तृस्थ कर्म में जो आत्मनेपद प्राप्त होता है वह शरीर के अवयव से भिन्न कर्म में ही होता है। सूत्र में शरीर शब्द से लक्षणा वृत्ति से शरीर का अवयव लक्षित होता है। इसका उदाहरण है—क्रोधं विनयते। अर्थात् क्रोध को दूर करता है। यहाँ अपनयन क्रिया का कर्म क्रोध है जो कर्ता में स्थित है। उसको हटाने का फल है—चित्त की प्रसन्नता, जो कर्ता में रहने वाली है। अतः

यहाँ नी धातु से 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से आत्मनेपद की सिद्धि रहने पर भी यह सूत्र नियमार्थ है। इसलिये गडुं विनयति (गलगण्ड या गले के गोला को गलाता है)—में आत्मनेपद नहीं हुआ क्योंकि गडु शरीर का अवयव है। 'विगणय्य नयन्ति पौरुषम्'—इस वाक्य में प्रश्न उठता है कि यहाँ पौरुष कर्म है तथा कर्ता में स्थित है और शरीर का अवयव भी नहीं है तब इसमें आत्मनेपद क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर देते हैं कि कर्तृगामी फल की विवक्षा नहीं होने से यहाँ आत्मने पद नहीं हुआ।

रूपसिद्धि :—

क्रोधं विनयते—'णीञ् प्रापणे' धातु परगामी क्रियाफल के रहने पर परस्मैपदी होता है। अतः वहाँ नयति रूप होता है किन्तु शरीरावयव भिन्न वस्तु के कर्तृस्थ कर्म के रहने पर 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' २७१० से वि पूर्वक नी धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः लट् लकार में 'त' प्रत्यय होने पर अप् (अ) विकरण होने पर धातु के गुण तथा अयादेश के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर विनयते (क्रोधम्) रूप निष्पन्न होता है। इस वाक्य का अर्थ है—क्रोध को हटाता है। यहाँ कर्ता में रहने वाला क्रोध कर्म है और वह शरीर का अंग नहीं है। अतः नी धातु आत्मनेपदी हो गया है।

गडुं विनयति—वि उपसर्ग पूर्वक 'णीङ् प्रापणे' धातु का कर्म यदि शरीर के अवयव से भिन्न कोई वस्तु रहे तो 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' २७१० से आत्मनेपद हो जाता है। यथा—क्रोधं विनयते।

'गडुं विनयति' में गडु (गलगण्ड) कर्म है और वह कर्ता के शरीर का अंग है। इसलिये इस सूत्र से आत्मनेपद नहीं होता है। फलतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५८ से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय आने से विनयति रूप होता है।

२७११। वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः १।३।३८

वृत्तिरप्रतिबन्धः। ऋचि क्रमते बुद्धिः। न प्रतिहन्यते इत्यर्थः। सर्ग उत्साहः। अध्ययनाय क्रमते। उत्सहते इत्यर्थः। क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि। स्फीतानि भवन्तीत्यर्थः।

वृत्ति, सर्ग और तायन अर्थ रहने पर क्रम धातु से आत्मनेपद होता है। वृत्ति का अर्थ है—अप्रतिबन्ध या अनवरोध अथवा रुकावट नहीं। इसका उदाहरण है—ऋचि क्रमते बुद्धिः। अर्थात् ऋग्वेद में इसकी बुद्धि कुण्ठित नहीं होती है। सर्ग का अर्थ है उत्साह। जैसे—अध्ययनाय क्रमते। अर्थात् अध्ययन के लिये प्रोत्साहित होता है। तायन का अर्थ है—वृद्धि या स्फीतता। यथा—क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि। अर्थात् इस व्यक्ति में शास्त्र विकसित होते हैं या स्फीत होते हैं।

रूपसिद्धि :—

ऋचि क्रमते बुद्धिः—यहाँ क्रम धातु का अर्थ है—अप्रतिहत गति से चलना। अतः इस अर्थ में 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। इसलिये

लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर क्रमते पद सिद्ध होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—ऋचि क्रमते बुद्धिः।

अध्ययनाय क्रमते—'क्रमु पादविक्षेपे' धातु परस्मैपदी है। अतः क्राम्यति या क्रामति रूप लट् के 'तिप्' प्रत्यय में होता है। यहाँ क्रम धातु का अर्थ है—सर्ग या उत्साहित होना। इसलिये 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' से उत्साह अर्थ में क्रम धातु के आत्मनेपदी होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर क्रमते पद बना है। अतः वाक्य प्रयोग है—अध्ययनाय क्रमते अर्थात् अध्ययन के लिये प्रोत्साहित होता है।

क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि—यहाँ क्रम धातु का अर्थ तायन या बढना अथवा स्फीत होना है। अतः 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। फलतः लट् के स्थान में 'झ' प्रत्यय आने पर 'झोऽन्तः' से अन्तादेश एवं 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने से क्रमन्ते पद बना है। अतः वाक्य प्रयोग है—क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि। अर्थात् इस व्यक्ति में शास्त्र विकसित होते हैं।

२७१२। उपपराभ्याम् १।३।३९।

वृत्त्यादिष्वाभ्यामेव क्रमेर्न तूपसर्गान्तरपूर्वात्। उपक्रमते। पराक्रमते। नेह—संक्रामति।

यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' का ग्रहण होता है। अतः सूत्रार्थ है—वृत्ति (अनवरोध), सर्ग (उत्साह) तथा तायन (वृद्धि) अर्थों में क्रम धातु से पूर्व में 'उप' तथा 'परा' उपसर्ग रहने पर ही क्रम धातु आत्मनेपदी होता है। तात्पर्य है कि क्रम धातु से पूर्व अन्य उपसर्ग रहे तब यह आत्मनेपदी नहीं होता है। यथा—उपक्रमते। अर्थात् निर्विघ्न पूर्वक आरम्भ करता है। पराक्रमते। अर्थात् उत्साह से भरा हुआ प्रवृत्त होता है।

अन्य उपसर्ग के रहने पर क्रम धातु परस्मैपदी होता है। इसलिये—संक्रामति में आत्मनेपद नहीं हुआ है। अर्थात् संक्रमण करता है।

रूपसिद्धि :—

उपक्रमते—यहाँ उप पूर्वक क्रम धातु का अर्थ है—प्रतिबन्ध रहित रूप से आरम्भ करना। अतः इस अर्थ में 'उपपराभ्याम्' २७१२ से क्रम धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर—उपक्रमते बना है।

पराक्रमते—परा पूर्वक क्रम धातु का यहाँ अर्थ है—उत्साह पूर्वक प्रवृत्त होना। अतः इस अर्थ में 'उपपराभ्याम्' से क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। फलतः 'त' प्रत्यय आने पर उसके टि (अ) का एत्व होने पर पराक्रमते पद बना है।

संक्रामति—वृत्ति (अनवरोध) सर्ग (उत्साह) तथा तायन (वृद्धि) अर्थ में उप तथा परा उपसर्ग रहने पर ही क्रम धातु आत्मनेपदी होता है—'उपपराभ्याम्' से।

चूँकि ये दो उपसर्ग ही यहाँ निर्दिष्ट हैं। अतः अन्य उपसर्ग पूर्व में रहने पर क्रम धातु आत्मनेपदी नहीं होता है। इसलिये उपर्युक्त उदाहरण में क्रम धातु से पूर्व में सम् उपसर्ग रहने के कारण आत्मनेपद नहीं होता है। फलतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर 'तिप्' प्रत्यय में संक्रामति रूप होता है।

२७१३ आङ उद्गमने १।३।४०।

आक्रमते सूर्यः। उदयते इत्यर्थः। 'ज्योतिरुद्गमने इति वाच्यम्' (वा० ९२१) नेह—आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्।

'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ होता है कि उद्गमन या ऊपर उठना अर्थ में आङ् पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—आक्रमते सूर्यः। अर्थात् सूर्य उदित होता है।

ज्योति अर्थात् तेज के उद्गमन में हो ऐसा कहना चाहिये, अन्यत्र नहीं। इसलिये 'आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्' (धुआँ महल से ऊपर उठता है)—में आत्मनेपद नहीं होता है क्योंकि धुआँ ज्योति (नक्षत्र) नहीं है।

रूपसिद्धि :—

आक्रमते सूर्य—यहाँ आङ् पूर्वक क्रम धातु का अर्थ उद्गमन या ऊपर उठना है अथवा उदित होना है। अतः 'आङ उद्गमने' २७१३ सूत्र से क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। इसलिये 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर आक्रमते रूप बनता है।

सामान्यतः क्रम धातु परस्मैपदी है। अतः क्रामति रूप होता है। विशेष स्थिति में यहाँ आत्मनेपद किया गया है।

आक्रामति धूमो हर्म्यतलात्—क्रम धातु परस्मैपदी है। अतः क्रामति रूप होता है, किन्तु आङ् पूर्वक क्रम धातु का अर्थ जब ऊपर उठना हो तब 'आङ उद्गमने' से यह धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः आक्रमते सूर्यः प्रयोग होता है।

इस सन्दर्भ में एक वार्तिक आता है—'ज्योतिरुद्गमने इति वाच्यम्'। अर्थात् ज्योति या नक्षत्र का उद्गमन हो वहीं 'आङ उदगमने' २७१३ से आत्मनेपद कहना चाहिये। इसलिये 'अक्रामति धूमो हर्म्यतलात्'—इस वाक्य में उद्गमन का कर्ता धुआँ के ज्योति (नक्षत्र) नहीं होने से आत्मनेपद नहीं हुआ है। फलतः 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने से लट् के स्थान में 'तिप्' आने से आक्रामति पद बना है।

२७१४। वेः पादकर्मणः १।३।४१।

साधु विक्रमते वाजी। 'पादविहरणे किम् ?' विक्रामति सन्धिः। द्विधा भवति, स्फुटतीत्यर्थः।

यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—पादविहरण (कदम बढ़ाना) अर्थ में वि पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है। उदाहरण

है—साधु विक्रमते वाजी (घोड़ा अच्छी तरह कदम बढ़ाता है)। पादविहरण अर्थ नहीं रहने पर परस्मैपद होता है। जैसे विक्रामति सन्धिः = मेल टूट जाता है।

रूपसिद्धि :—

साधु विक्रमते वाजी—क्रम धातु परस्मैपदी है। अतः क्रामति रूप होता है, किन्तु वि पूर्वक क्रम धातु का अर्थ यहाँ पादविहरण (कदम बढ़ाना) है। इसलिये 'वेः पादविहरणे' २७१४ से क्रम धातु के आत्मनेपदी हो जाने से लट् लकार में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर क्रमते रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—साधु विक्रमते वाजी (घोड़ा अच्छी तरह कदम बढ़ाता है)।

विक्रामति सन्धिः—यहाँ वि पूर्वक क्रम धातु का अर्थ विश्रृंखलित होना है। अतः 'वेः पादविहरणे' २७१४ से आत्मनेपद नहीं होता है क्योंकि इस सूत्र से आत्मनेपद वहीं होता है जहाँ वि पूर्वक क्रम धातु का अर्थ पादविहरण (कदम बढ़ाता) हो। अतः पादविहरण अर्थ के अभाव में यहाँ आत्मनेपद नहीं होने पर 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय के आने से विक्रामति रूप बनता है।

२७१५। प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् १।३।४२।

समर्थौ तुल्यार्थौ। शकन्ध्वादित्वात्पररूपम्। प्रारभ्यतेऽनयोस्तुल्यार्थता। प्रक्रमते। उपक्रमते। 'समर्थाभ्याम्' किम्? प्रक्रामति। गच्छतीत्यर्थः। उपक्रामति। आगच्छतीत्यर्थः।

यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' से 'क्रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि प्र तथा उप पूर्वक क्रम धातु का प्रयोग जब समर्थ या तुल्य अर्थ में हो तब क्रम धातु आत्मनेपदी हो जाता है। समर्थ या सम अर्थ से तात्पर्य है समान अर्थ। सम + अर्थ की स्थिति में 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घसन्धि प्राप्त होने पर 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक से पररूप होने से 'समर्थ' शब्द बना है। प्रारम्भ में अर्थ में प्रक्रम तथा उपक्रम समान अर्थवाचक हैं। दोनों शब्द समानार्थक या आरम्भार्थक हैं। सूत्र में 'समर्थ' पाठ होने के कारण इससे भिन्न अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है। अतः परस्मैपद हो जाने पर प्रक्रामति रूप होता है। इसका अर्थ है—गमन करता है। इसी प्रकार उपक्रामति का अर्थ है—निकट आता है।

रूपसिद्धि :—

प्रक्रमते—यहाँ प्र पूर्वक क्रम धातु का समर्थ या आरम्भ अर्थ बोध होने से 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' २७१५ से आत्मनेपद होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर प्रक्रमते पद बना है।

उपक्रमते—उप पूर्वक क्रम धातु से तुल्य या आरम्भ अर्थ होने पर 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' २७१५ से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने से उपक्रमते पद बना है।

२७१६ । अनुपसर्गाद्वा १।३।४३ ।

क्रामति, क्रमते । अप्राप्तविभाषेयम् । वृत्यादौ तु नित्यमेव ।

यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' २७११ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्र का अर्थ होता है कि उपसर्ग रहित क्रम धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है। यथा—क्रामति, क्रमते ।

यह अप्राप्त विभाषा है । आशय है कि किसी अन्य सूत्र से आत्मनेपद प्राप्त नहीं था और यहाँ विकल्प से आत्मनेपद का विधान किया गया है । अतः अप्राप्त विभाषा शब्द का विग्रह है—विविधा पक्षपातिनी भाषा विभाषा । अर्थात् जिसके विविध रूप देखे जाते हैं । वृत्ति (निरन्तर गति) और सर्ग (उत्साह) आदि अर्थों में नित्य ही आत्मनेपद होता है ।

रूपसिद्धि :—

क्रामति, क्रमते—यहाँ क्रम धातु से पूर्व कोई उपसर्ग नहीं है एवम् क्रम धातु किसी अर्थ विशेष में भी प्रयुक्त नहीं है । अतः 'अनुपसर्गाद्वा' से यहाँ विकल्प से आत्मनेपद होने के कारण पक्ष में परस्मैपद होने से लट् के स्थान में तिप् आने से क्रामति तथा आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होने से टि (अ) का एत्व होने पर क्रमते पद बनता है ।

२७१७ । अपह्नवे ज्ञः १।३।४४ ।

शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः ।

अपलाप या मिथ्या भाषण अर्थ में ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है । उदाहरण है—शतमपजानीते । अर्थात् सौ रुपये बड़गलाता है ।

रूपसिद्धि :—

शतमपजानीते—यहाँ अप पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ है—अपलाप करना या छिपाना । अतः इस अर्थ में 'अपह्नवे ज्ञः' से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होने पर अपजानीते प्रयोग होता है ।

२७१८ । अकर्मकाच्च १।३।४५ ।

सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्तते इत्यर्थः ।

'अपह्नवे ज्ञः' से 'ज्ञः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है । यथा—सर्पिषः जानीते । अर्थात् घी के उपाय या लोभ से प्रवृत्त होता है ।

रूपसिद्धि :—

सर्पिषः जानीते—'ज्ञा अवबोधने' धातु सकर्मक एवं परस्मैपदी है । अतः तत्त्वं जानाति प्रयोग होता है । ज्ञा धातु का प्रयोग यदि अकर्मक क्रिया में हो तो 'अकर्मकाच्च' २७१८ से ज्ञा धातु आत्मनेपदी हो जाता है । यथा—सर्पिषः जानीते । अर्थात् घी के उपाय द्वारा काम में प्रवृत्त होता है ।

प्रवृत्त होना अकर्मक क्रिया है जिसके लिये ज्ञा धातु का प्रयोग यहाँ हुआ है। अतः 'अकर्मकाच्च' २७१८ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होकर जानीते रूप बनता है।

२७१९। सम्प्रतिभ्यामनाध्याने १।३।४६।

शतं सञ्जानीते। अवेक्षते इत्यर्थः। शतं प्रतिजानीते। अङ्गीकरोतीत्यर्थः। 'अनाध्याने' इति योगो विभज्यते। तत्सामर्थ्यात् 'अकर्मकाच्च' (सू० २७१८) इति प्राप्तिरपि वार्यते। मातरं मातुर्वा सञ्जानाति। कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी।

'अपह्नवे ज्ञः' से 'ज्ञः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—सम् एवं प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से अनाध्यान अर्थ में आत्मनेपद होता है। आध्यान का अर्थ है—उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण। इस प्रकार उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण नहीं होना अनाध्यान है। उदाहरण—शतं सञ्जानीते। अर्थात् सौ मुद्रा सत्य जानता है। शतं प्रतिजानीते। अर्थात् सौ रुपये स्वीकारता है।

'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' इस सूत्र में 'अनाध्याने' यह योग विभाग है। तात्पर्य है कि इस सूत्र का दो विभाग कर देते हैं—'सम्प्रतिभ्याम्' और 'अनाध्याने'। 'सम्प्रतिभ्याम्'—का अर्थ है—सम् और प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है। 'अनाध्याने' का अर्थ है—अनुत्कण्ठा पूर्वक स्मरण में सम् और प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है। इस योग विभाग के सामर्थ्य से 'अकर्मकाच्च' २७१८ की प्राप्ति का भी वारण हो जाता है। फलतः अनाध्यान नहीं रहने पर आत्मनेपद भी नहीं होता है। जैसे—मातरं मातुर्वा सञ्जानाति। अर्थात् माता की याद उत्कण्ठा से करता है। यहाँ उत्कण्ठापूर्वक स्मरण (आध्यान) होने से परस्मैपद हुआ है।

मातरं मातुर्वा सञ्जानाति इस प्रयोग में माता कर्म है। अतः उसमें द्वितीया उचित है। षष्ठी कैसे हुई? इसके उत्तर में कहते हैं कि कर्म की शेषत्वेन विवक्षा करने से षष्ठी हुई है। कर्मत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है।

रूपसिद्धि :—

शतं सञ्जानीते—यहाँ सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ है—अच्छी तरह जानना। अतः आध्यान या उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ यहाँ नहीं होने से अनाध्यान अर्थ के कारण 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' २७१९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होकर परसवर्ण के बाद सञ्जानीते पद बनता है।

शतं प्रतिजानीते—यहाँ प्रति पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ है—स्वीकार करना अतः अनाध्यान (उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण अर्थ का अभाव) के कारण 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने' २७१९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर टि (अ) का एत्व होने के बाद प्रतिजानीते पद बनता है। अर्थात् सौ रुपये स्वीकार करता है।

२७२०। भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः १।३।४७।

उपसम्भाषोपमन्त्रणे धातोर्वाच्ये, इतरे प्रयोगोपाधयः। शास्त्रे वदते। भासमानो ब्रवीतीत्यर्थः। उपसम्भाषा उपसान्त्वनम्। भृत्यानुपवदते। सान्त्वयतीत्यर्थः। ज्ञाने—शास्त्रे वदते। यत्ने—क्षेत्रे वदते। विमतौ—क्षेत्रे विवदन्ते। उपमन्त्रण-मुपच्छन्दनम्। उपवदते, प्रार्थयते इत्यर्थः।

भासन (नया-नया तर्क उपस्थित करना), उपसम्भाषण (उपसान्त्वना या धैर्य दिलाना), ज्ञान, यत्न, विमति तथा उपमन्त्रण—इन अर्थों में वर्तमान वद् धातु से आत्मनेपद होता है। उपसम्भाषण और उपमन्त्रण—ये दोनों धातु के वाच्य अर्थ हैं जबकि अन्य—भासन, ज्ञान, यत्न और विमति अर्थ प्रयोग की उपाधि हैं। तात्पर्य है कि ये अर्थतः लब्ध होते हैं, वाच्य रूप में नहीं।

भासन का अर्थ है नयी-नयी युक्ति का उल्लेख। इसका उदाहरण है—शास्त्रे वदते। अर्थात् नया-नया तर्क बोलता है। उपसम्भाषण का अर्थ है—सान्त्वना या धैर्य देना। यथा—भृत्यानुपवदते अर्थात् नौकरों को सान्त्वना देता है। ज्ञान का उदाहरण है—शास्त्रे वदते अर्थात् शास्त्र के विषय में ज्ञानपूर्वक बोलता है। यत्न से आशय है—उत्साह पूर्वक चेष्टा। यथा—क्षेत्रे वदते=क्षेत्र के विषय में उत्साह पूर्वक बोलता है। विमति का अर्थ है—विरुद्ध मति या परस्पर विरुद्ध मत प्रकट करना। जैसे—क्षेत्रे विवदन्ते। अर्थात् क्षेत्र के विषय में परस्पर विरुद्ध मत प्रकट करते हैं। उपमन्त्र से तात्पर्य है—सकारण निवेदन या प्रार्थना। यथा—उपवदते=प्रार्थना करता है।

रूपसिद्धि :—

शास्त्रे वदते—वद धातु परस्मैपदी है। अतः वदति रूप होता है। यहाँ उप पूर्वक वद धातु का अर्थ भासन या नये-नये तर्कपूर्वक बोलना है। अतः 'भासनोपसम्भाषा—' २७२० से वद् धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय में एत्व होकर उपवदते प्रयोग होता है। अर्थात् नयी-नयी युक्ति के साथ शास्त्र के विषय में बोलता है।

भृत्यानुपवदते—सामान्यतः वद् धातु का प्रयोग परस्मैपद में होता है। अतः वदति रूप होता है। यहाँ उप पूर्वक वद् धातु का प्रयोग उपसम्भाषण या सान्त्वना देना अर्थ में है। अतः 'भासनोपसम्भाषा—' २७२० से वद् धातु के आत्मनेपदी होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने के बाद टि (अ) का एत्व करके उपवदते प्रयोग होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—भृत्यानुपवदते अर्थात् नौकरों को धैर्य दिलाता है।

शास्त्रे वदते—यहाँ वद् धातु का प्रयोग ज्ञान पूर्वक बोलने अर्थ में है। अतः 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्न—' २७२० से वद् धातु के आत्मनेपदी हो जाने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने से वदते पद निष्पन्न होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—शास्त्रे वदते = शास्त्र ज्ञान पूर्वक बोलता है।

क्षेत्रे वदते—यहाँ वद् धातु का प्रयोग यत्न या उत्साह पूर्वक बोलने अर्थ में है। इसलिये 'भासनोपसम्भाषा—' २७२० से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय

होने से टि (अ) का एत्व होकर वदते रूप होता है। अतः क्षेत्रे वदते का अर्थ है—क्षेत्र के विषय में उत्साह पूर्वक बोलता है।

क्षेत्रे विवदन्ते—जब वि पूर्वक वद धातु का अर्थ विमति या परस्पर विवाद करना हो तब 'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' २७२० से वद् धातु के आत्मनेपदी हो जाने पर लट् के स्थान में 'झ' प्रत्यय होने पर 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश और टि (अ) का एत्व होने पर विवदन्ते रूप सिद्ध होता है। अतः क्षेत्रे विवदन्ते = क्षेत्र के विषय में विवाद करते हैं।

उपवदते—यहाँ उप पूर्वक वद् धातु का अर्थ प्रार्थना करना है। अतः 'भासनोपसम्भाषाज्ञान—'२७२० से इस अर्थ में वद् धातु से आत्मनेपद होने पर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने के बाद एत्व होकर उपवदते प्रयोग होता है। इसका अर्थ है—प्रार्थना करता है।

२७२१। व्यक्तवाचां समुच्चारणे १।३।४८।

मनुष्यादीनां सम्भूयोच्चारणे वदेरात्मनेपदं स्यात्। सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः। नेह सम्प्रवदन्ति खगाः।

'भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः' २७२० से 'वदः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—व्यक्तवाणी अर्थात् स्वर-व्यञ्जन वर्णों के भेद पूर्वक एकीभूत स्पष्ट वाणी के उच्चारण अर्थ में वद् धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः। अर्थात् ब्राह्मण लोग मिलकर सस्वर उच्चारण करते हैं। जहाँ स्पष्ट वाणी का उच्चारण नहीं हो वहाँ आत्मनेपद नहीं होकर परस्मैपद होता है। जैसे—सम्प्रवदन्ति खगाः। अर्थात् पक्षी बोलते हैं।

रूपसिद्धि :—

सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः—'वद व्यक्तायां वाचि' परस्मैपदी है। अतः वदति रूप होता है, किन्तु स्वर-व्यञ्जन भेद पूर्वक स्पष्ट उच्चारण के अर्थ में 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' से यहाँ सम् + प्र पूर्वक वद् धातु के आत्मनेपदी हो जाने के कारण लट् लकार के स्थान में 'झ' प्रत्यय आने पर 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश तथा टि (अ) का एत्व होने पर सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः प्रयोग होता है। अर्थात् ब्राह्मण लोग मिलकर सस्वर उच्चारण करते हैं।

सम्प्रवदन्ति खगाः—इस वाक्य का अर्थ है—पक्षिगण बोलते हैं। पक्षियों के बोलने में स्वर व्यञ्जन की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतः 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' २७२१ से आत्मनेपद नहीं होने पर सम् एवं प्र पूर्वक वद् धातु से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर लट् के स्थान में 'झि' प्रत्यय होने से 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश होकर सम्प्रवदन्ति खगाः—ऐसा प्रयोग होता है।

२७२२। अनोरकर्मकात् १।३।४९।

व्यक्तवाग्विषयादनुपूर्वादकर्मकाद्वदेरात्मनेपदं स्यात् । अनुवदते कठः कलापस्य । 'अकर्मकात्' किम् ? उक्तमनुवदति । 'व्यक्तवाचाम्' किम् ? अनुवदति वीणा ।

'भाषणोपसम्भाषाज्ञानयत्न—' २७२० से 'वदः' की अनुवृत्ति तथा 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' का ग्रहण होने पर सूत्रार्थ है—व्यक्त वाणी के विषय में प्रयुक्त अनु पूर्वक अकर्मक वद् धातु से आत्मनेपद होता है । यथा—अनुवदते कठः कलापस्य । अर्थात् कलाप के सदृश कठ बोलता है । सूत्र में 'अकर्मकात्' पढ़ा गया है । अतः सकर्मक वद् धातु रहने पर परस्मैपद ही होता है । यथा—उक्तमनुवदति = कहे हुए का अनुवाद करता है । सूत्र में 'व्यक्तवाचाम्' पाठ के कारण स्पष्ट वाणी नहीं रहने पर परस्मैपद होता है । जैसे—अनुवदति वीणा ।

रूपसिद्धि :—

अनुवदते कठः कलापस्य—यहाँ व्यक्त वाणी के विषय में अनु पूर्वक वद् धातु का प्रयोग अकर्मक क्रिया के रूप में किया गया है । अतः 'अनोरकर्मकात्' २७२२ से आत्मनेपद होने पर लट् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने पर अनुवदते प्रयोग बना है । अतः अनुवदते कठः कलापस्य का अर्थ है—कलाप के समान कठ बोलता है ।

२७२३ । विभाषा विप्रलापे १।३।५० ।

विरुद्धोक्तिरूपे व्यक्तवाचां समुच्चारणे उक्तं वा स्यात् । विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः ।

'भाषणोपसम्भाषाज्ञानयत्न—' २७२० से 'वदः' तथा 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—परस्पर विरुद्ध अर्थ को बताने वाले व्यक्त वचन का समुच्चारण होने पर वद् धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है । जैसे—विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः । अर्थात् चिकित्सक लोग परस्पर विरोधी मत प्रकट करते हैं ।

रूपसिद्धि :—

विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः—वद धातु परस्मैपदी है । अतः लट् लकार में झि प्रत्यय से वदन्ति रूप होता है, किन्तु जब वद् धातु का अर्थ परस्पर विरुद्ध वचन व्यक्त रूप में बोलना हो तब 'विभाषा विप्रलापे' २७२३ के द्वारा वद् धातु से विकल्प से आत्मनेपद होता है । अतः यहाँ वि + प्र पूर्वक वद् धातु से आत्मनेपद में लट् के स्थान में 'झ' प्रत्यय होने पर 'झोऽन्तः' २१६९ से अन्तादेश तथा टि (अ) का 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर विप्रवदन्ते रूप होता है ।

विकल्प पक्ष में परस्मैपद होने से 'झि' प्रत्यय में अन्तादेश के बाद विप्रवदन्ति रूप होता है । अतः वाक्य प्रयोग है—विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैद्याः । अर्थात् वैद्यगण परस्पर विरुद्ध मत प्रकट करते हैं ।

२७२४ । अवाद् ग्रः १।३।५१ ।

अवगिरते । 'गृणातिस्त्ववपूर्वो न प्रयुज्यत एव' इति भाष्यम् ।

अव पूर्वक गृ धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—अवगिरते।

अव उपसर्ग पूर्वक क्र्यादिगण के 'गॄ शब्दे' धातु, जिसमें 'क्र्यादिभ्यः श्ना' २५५४ से 'श्ना' विकरण होता है, का प्रयोग ही नहीं होता है—ऐसा भाष्य में लिखा है। अतः अवगृणाति या अवगृणाते रूप नहीं होता है।

रूपसिद्धि :—

अवगिरते—'गॄ निगरणे' धातु परस्मैपदी है, अतः गिरति रूप होता है। किन्तु अव पूर्वक गृ धातु का प्रयोग रहने पर 'अवाद् ग्रः' २७२४ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर अवगिरते पद बनता है।

२७२५। समः प्रतिज्ञाने १।३।५२।

शब्दं नित्यं सङ्गिरते। प्रतिजानीते इत्यर्थः, 'प्रतिज्ञाने' किम्? सङ्गिरति ग्रासम्।

'अवाद् ग्रः' २७२४ से 'ग्रः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—प्रतिज्ञा अर्थ में सम् पूर्वक गृ धातु से आत्मनेपद हो जाता है। यथा—शब्दं नित्यं सङ्गिरते। अर्थात् शब्द को प्रतिदिन स्वीकारता है। प्रतिज्ञा या स्वीकारना अर्थ नहीं रहने पर आत्मनेपद नहीं होता है। जैसे—सङ्गिरति ग्रासम् = ग्रास को लीलता है।

रूपसिद्धि :—

शब्दं नित्यं सङ्गिरते—'गॄ निगरणे' धातु परस्मैपदी है। अतः गिरति रूप होता है, किन्तु सम् पूर्वक गृ धातु का अर्थ प्रतिज्ञा हो तब 'समः प्रतिज्ञाने' २७२५ से आत्मनेपद हो जाता है। अतः सम् पूर्वक गृ धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होकर संगिरते रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—शब्दं नित्यं सङ्गिरते। अर्थात् शब्द को नित्य स्वीकारता है।

२७२६। उदश्चरः सकर्मकात् १।३।५३।

धर्ममुच्चरते। उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः। 'सकर्मकात्' किम्? वाष्पमुच्चरति। उपरिष्टाद् गच्छतीत्यर्थः।

उत्पूर्वक सकर्मक चर् धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—धर्ममुच्चरते। अर्थात् धर्म का उल्लंघन करता है। सूत्र में 'सकर्मकात्' पढा गया है। अतः अकर्मक रहने पर परस्मैपद ही होता है। यथा—बाष्पमुच्चरति। अर्थात् बाष्प ऊपर की ओर जाता है।

रूपसिद्धि :—

धर्ममुच्चरते—चर धातु परस्मैपदी है। अतः गौश्चरति प्रयोग होता है। यहाँ उत् पूर्वक चर् धातु का प्रयोग सकर्मक क्रिया के अर्थ में है तथा इसका कर्म है—धर्म। अतः 'उदश्चरः सकर्मकात्' २७२६ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होने के बाद उच्चरते रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—धर्ममुच्चरते। अर्थात् धर्म का उल्लंघन करता है।

बाष्पमुच्चरति—चर् धातु परस्मैपदी है। अतः चरति प्रयोग होता है, किन्तु उत् पूर्वक चर धातु के सकर्मक होने पर 'उदश्चरः सकर्मकात्' २७२६ से धातु सकर्मक हो जाता है। वाष्पमुच्चरति में धातु के अकर्मक होने से इस सूत्र से आत्मनेपद नहीं होने से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय में चरति रूप होता है। अतः वाक्य प्रयोग है—बाष्पमुच्चरति। अर्थात् बाष्प ऊपर की ओर जाता है।

२७२७ समस्तृतीयायुक्तात् १।३।५४।

रथेन सञ्चरते।

'उदश्चरः सकर्मकात्' २७२६ से 'चरः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—तृतीयान्त पद से युक्त सम् पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—रथेन सञ्चरते। अर्थात् रथ से संचरण या विचरण करता है।

रूपसिद्धि :—

रथेन सञ्चरते—चर् धातु या सम् पूर्वक चर् धातु परस्मैपदी है। अतः चरति एवं सञ्चरति रूप होता है किन्तु सम् पूर्वक चर् धातु यदि तृतीयान्त सुबन्त से युक्त हो तब 'समस्तृतीयायुक्तात्' २७२७ से आत्मनेपद होने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय में 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर 'म्' का अनुस्वार तथा परसवर्ण होने पर सञ्चरते पद निष्पन्न होता है। अतः वाक्य प्रयोग है- रथेन सञ्चरते। अर्थात् रथ से विचरण करता है।

२७२८। दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे १।३।५५।

सम् पूर्वाद् दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात्, सा च तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे। दास्या संयच्छते। पूर्वसूत्रे 'समः' इति षष्ठी। तेन सूत्रद्वयमिदं व्यवहितेऽपि प्रवर्तते। रथेन समुदाचरते। दास्या सम्प्रयच्छते।

'समस्तृतीयायुक्तात्' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—चतुर्थी के अर्थ में जहाँ तृतीया विहित हो वहाँ उस तृतीयान्त पद के योग में सम् पूर्वक दाण् धातु से आत्मनेपद होता है। सामान्यतः सम्प्रदान कारक (जिसे कुछ दिया जाये) में चतुर्थी विभक्ति होती है 'चतुर्थी सम्प्रदाने' ५७१ से। किन्तु अशिष्ट व्यवहार (परस्त्री या दासी आदि में गमन) के लिये दान के अर्थ में 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' इस वार्तिक से चतुर्थी के बदले तृतीया विभक्ति होती है। अतः प्रयोग है—दास्या संयच्छते। अर्थात् दासी को अनुचित कामोपभोग के लिये धन देता है।

पूर्व सूत्र—'समस्तृतीयायुक्तात्' २७२७ में 'समः' सम् से पञ्चमी का रूप नहीं, किन्तु षष्ठी का है। अतः 'समः तृतीयायुक्तात्' २७२७ तथा 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' २७२८—ये दोनों सूत्र व्यवधान में भी प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य है कि सम् के बाद किसी अन्य उपसर्ग के रहने पर भी ये सूत्र प्रवृत्त होते हैं। इसलिये सम् + उत् + आ पूर्वक चर् धातु से 'समस्तृतीयायुक्तात्' २७२७ से आत्मनेपद होने पर 'रथेन समुदाचरते' प्रयोग होता है।

इसी प्रकार सम् + प्र पूर्वक दाण् धातु से 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' से आत्मनेपद होने पर दास्या सम्प्रयच्छते प्रयोग होता है।

रूपसिद्धि :—

दास्या संयच्छते—यहाँ अशिष्ट व्यवहार के लिये दान का पात्र दासी है जिसमें चतुर्थी के बदले तृतीया विभक्ति होने पर सम् पूर्वक 'दाण् दाने' धातु से 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' २७२८ से आत्मनेपद होने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय आने से 'पाघ्राध्मा-स्थाम्नादाण्—' २३६० से 'दाण्' का 'यच्छ' आदेश होने के बाद 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२२३ से एत्व होकर अनुस्वार के बाद संयच्छते रूप बनता है।

२७२९। उपाद् यमः स्वकरणे १।३।५६।

स्वकरणं स्वीकारः। भार्यामुपयच्छते।

स्वकरण अर्थ में उप पूर्वक यम् धातु से आत्मनेपद होता है। स्वकरण का अर्थ है—स्वीकार। इसका उदाहरण है भार्यामुपयच्छते। अर्थात् स्त्री को स्वीकारता है।

रूपसिद्धि :—

भार्यामुपयच्छते—'दाण् दाने' धातु परस्मैपदी है। अतः लट् लकार में 'तिप्' प्रत्यय होने पर 'दाण्' का 'यच्छ' आदेश होने पर यच्छति रूप होता है, किन्तु दाण् धातु से पूर्व में उप उपसर्ग हो तथा उसका अर्थ स्वीकार करना हो तब 'उपाद् यमः स्वकरणे' २७२९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'दाण्' का 'यच्छ' आदेश तथा टि (अ) का एत्व होने पर उपयच्छते प्रयोग होता है। अतः 'भार्यामुपयच्छते' वाक्य प्रयोग है। इसका अर्थ है—भार्या को स्वीकारता है।

२७३०। विभाषोपयमने १।२।१६।

यमः सिच्किद्वा स्याद्विवाहे। रामः सीतामुपायत-उपायंस्त वा। उदवोढेत्यर्थः। गन्धनाङ्गे उपयमे तु पूर्वविप्रतिषेधान्नित्यं कित्त्वम्।

यहाँ 'असंयोगाल्लिट् कित्' २२४२ से 'कित्' तथा 'हनः सिच्' २६९७ से 'सिच्' एवम् 'यमो गन्धने' २६९८ से 'यमः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—विवाह अर्थ में उप पूर्वक यम् धातु का प्रयोग रहने पर धातु से परे 'सिच्' विकल्प से कित् होता है। इसका उदाहरण है—

रामः सीतामुपायत उपायंस्त वा।

अर्थात् राम ने सीता से विवाह किया।

हिंसात्मक (राक्षस, पिशाच आदि) विवाह में पूर्व विप्रतिषेध के कारण 'यमो गन्धने' २६९८ से नित्य ही कित्त्व होता है।

रूपसिद्धि :—

उपायत, उपायंस्त—उप पूर्वक यम् धातु से 'उपाद्यमः स्वकरणे' २७२९ से आत्मनेपद होने पर लुङ् लकार के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'च्लि लुङि' २२२१ से 'च्लि'

आने पर 'च्लेः सिच्' २२२२ से 'च्लि' का 'सिच्' होने पर अडागम के बाद 'उप अ यम् स् त' की स्थिति में 'विभाषोपयमने' २७३० से विकल्प से सिच् का कित् हो जाने पर 'अनुदात्तोपदेश वनति—' २४२८ से अनुनासिक (म्) का लोप होने पर 'झलो झलि' २२८१ से 'स्' लोप के बाद उपायत प्रयोग होता है।

विकल्प पक्ष में सिच् का कित् नहीं होने पर 'अनुदात्तोपदेश वनति—' २४२८ से अनुनासिक 'म्' का लोप नहीं होने पर 'झलो झलि' २२८१ से 'स्' लोप भी नहीं होने से 'म्' का अनुस्वार होकर उपायंस्त प्रयोग होता है।

२७३१। ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः १।३।५७।

सन्नन्तानामेषां प्राग्वत्। धर्मं जिज्ञासते। शुश्रूषते। सुस्मूर्षते। दिदृक्षते।

सन् प्रत्ययान्त ज्ञा, श्रु, स्मृ तथा दृश् धातु से आत्मनेपद होता है। उदाहरण है—धर्मं जिज्ञासते = धर्म को जानना चाहता है। धर्मं शुश्रूषते = धर्म को सुनने की इच्छा करता है। धर्मं सुस्मूर्षते = धर्म को स्मरण करना चाहता है। धर्मं दिदृक्षते = धर्मं (धर्म के प्रभाव) को देखना चाहता है।

यद्यपि ज्ञा धातु से अपह्नव (छिपाना) अर्थ में 'अपह्नवे ज्ञः' २७१७ से आत्मनेपद प्राप्त था एवम् 'अतिश्रुदृशिभ्यश्च' वार्तिक से श्रु एवं दृश् धातु से आत्मनेपद प्राप्त था, एवम् सन्नन्त धातुओं से भी 'पूर्ववत्सनः' से आत्मनेपद सिद्ध था, फिर भी अपह्नव तथा अकर्मक आदि के अभाव में भी आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र पढ़ा गया है।

रूपसिद्धि :—

धर्मं जिज्ञासते—ज्ञातुमिच्छति—इस विग्रह में 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' २६०८ से ज्ञा धातु से सन् प्रत्यय आने पर धातु का द्वित्व तथा अभ्यास कार्य के बाद बने 'जिज्ञास' की 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा होने पर 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने के बाद जिज्ञासते रूप सिद्ध होता है।

शुश्रूषते—श्रोतुमिच्छति—इस विग्रह में श्रु धातु से सन् प्रत्यय होने पर सन्नन्त श्रू (शुश्रूष) से 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होकर शुश्रूषते बनता है।

दिदृक्षते—द्रष्टुमिच्छति—इस विग्रह में दृश् (दिदृक्ष) धातु से 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर टि (अ) का एत्व होने पर दिदृक्षते रूप सिद्ध होता है।

२७३२। नानोर्ज्ञः १।३।५८।

पुत्रमनुजिज्ञासति। पूर्वसूत्रस्यैवायं निषेधः, 'अनन्तरस्य—' (प० ६३) इति न्यायात्। तेनेह न—सर्पिषोऽनुजिज्ञासते। सर्पिषा प्रवर्तितुमिच्छतीत्यर्थः। 'पूर्ववत्सनः' (सू० २७३४) इति लङ्, 'अकर्मकाच्च' (सू० २७१८) इति केवलाद्विधानात्।

'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से 'सनः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—अनु पूर्वक सन्नन्त ज्ञा धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। इसका उदाहरण है—पुत्रमनुजिज्ञासति। अर्थात् पुत्र को आज्ञा देना चाहता है।

यह सूत्र—'नानोर्ज्ञः' पूर्व सूत्र—'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' का निषेधक है। 'अनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा'—इस न्याय से यहाँ आत्मनेपद नहीं होता है। किन्तु 'सर्पिषोऽनुजिज्ञासते'—प्रयोग में आत्मनेपद का निषेध नहीं होता, बल्कि 'पूर्ववत्सनः' २७३४ से आत्मनेपद हो जाता है। 'अकर्मकाच्च' से केवल ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है।

रूपसिद्धि :—

पुत्रमनुजिज्ञासति—पुत्रमनुज्ञातुमिच्छति इस विग्रह में अनु पूर्वक ज्ञा धातु से सन् प्रत्यय होने पर सन्नन्त ज्ञा (अनुजिज्ञास) धातु से 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद प्राप्त था, किन्तु अनु पूर्वक ज्ञा धातु होने के कारण 'नानोर्ज्ञः' से आत्मनेपद का निषेध हो जाने पर परस्मैपद होने से तिप् प्रत्यय में अनुजिज्ञासति रूप होता है।

२७३३ : प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः १।३।५९।

आभ्यां सन्नन्ताच्छ्रुव उक्तं न स्यात्। प्रतिशुश्रूषति। आशुश्रूषति। कर्मप्रवचनीयात्स्यादेव। देवदत्तं प्रति शुश्रूषते। 'शदेः शितः' (सू० २३६२), 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' (सू० २५३८) व्याख्यातम्।

'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३२ से 'सनः' तथा 'नानोर्ज्ञः' से 'न' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—प्रति एवम् आङ् पूर्वक सन्नन्त श्रु धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। यथा—प्रतिशुश्रूषति। अर्थात् बदले में सेवा करता है। आशुश्रूषति—समग्र रूप से या लक्ष्य सिद्धि तक सेवा करता है। इन उदाहरणों में 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३१ से आत्मनेपद प्राप्त था जिसका निषेध इस सूत्र से होता है।

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर तो आत्मनेपद होता ही है। जैसे—देवदत्तं प्रति शुश्रूषते। अर्थात् देवदत्त की सेवा बदले की भावना से करता है। इसमें 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान—' से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर उसके योग में द्वितीया विभक्ति होने पर 'देवदत्तम्' पद बना है। 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३२ से आत्मनेपद हो जाता है।

'शदेः शितः' तथा 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' से आत्मनेपद का विधान होता है। व्याख्यान पूर्व में हो चुका है।

रूपसिद्धि :—

प्रतिशुश्रूषति—यहाँ प्रति पूर्वक सन्नन्त श्रु धातु का प्रयोग है। सन्नन्त श्रु धातु से आत्मनेपद का विधान 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३२ से प्राप्त होता है, किन्तु प्रति उपसर्ग होने के कारण 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः' से आत्मनेपद का निषेध हो जाने पर परस्मैपद में लट् के स्थान में 'तिप्' होने से प्रतिशुश्रूषति रूप होता है।

आशुश्रूषति—आङ् पूर्वक सन्नन्त श्रु धातु से आत्मनेपद का विधान 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' २७३२ से प्राप्त होने पर आङ् उपसर्ग रहने के कारण 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः' २७३३ से आत्मनेपद का निषेध हो जाने पर परस्मैपद में लट् के स्थान में तिप् प्रत्यय होने पर आशुश्रूषति रूप होता है। इसका अर्थ है—समग्र रूप से या लक्ष्य की सिद्धि तक सेवा करता है।

देवदत्त प्रति शुश्रूषते—श्रोतुमिच्छति इस विग्रह में 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' २६०८ से श्रु धातु से सन् प्रत्यय होने पर द्वित्वादि कार्य के बाद शुश्रूस् धातु से आत्मनेपद का विधान 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' से होता है, किन्तु प्रति पूर्वक सन्नन्त श्रु धातु के होने से 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः' २७३३ से आत्मनेपद का निषेध प्राप्त होता है, किन्तु यहाँ 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' ५५२ से होती है। इसलिये 'कर्मप्रवचनीयात् स्यादेव' इस वचन के अनुसार आत्मनेपद ही होने से लट् लकार में 'त' प्रत्यय में शुश्रूषते प्रयोग होता है।

२७३४। पूर्ववत्सनः १।३।६२।

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात्। एदिधिषते। शिशयिषते। निविविक्षते। 'पूर्ववत्' किम्? बुभूषति। 'शदेः—' (सू० २३६२) 'म्रियते—' (सू० २५३८) इत्यादि सूत्रद्वये 'सनो न' इत्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयम्। तेनेह न—शिशत्सति। मुमूर्षति। 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' (सू० २२४०) एधांचक्रे।

सन् प्रत्यय की प्रकृति भूत जो धातु उसके तुल्य सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है। तात्पर्य है कि जब आत्मनेपदी धातु से इच्छार्थे सन् प्रत्यय होता है तो उस सन्नन्त धातु से भी आत्मनेपद हो जाता है। जैसे एधितुम् इच्छति इस विग्रह में सन् प्रत्यय होने पर बने एदिधिष से आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय होने पर एदिधिषते पद बनता है। इसी प्रकार शयितुमिच्छति इस विग्रह में आत्मनेपदी शीङ् धातु से सन् प्रत्यय करने पर शिशयिष से आत्मनेपद में त प्रत्यय में शिशयिषते पद बनता है। निवेष्टुम् इच्छति इस विग्रह में निविविक्षते प्रयोग होता है।

सूत्र में 'पूर्ववत्' ग्रहण के कारण भू धातु के परस्मैपदी होने से उससे सन् प्रत्यय करने पर बुभूषति—यह परस्मैपदी रूप ही होता है।

'शदेः शितः' २३६२ तथा 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च'—इन दो सूत्रों में 'पूर्ववत्सनः' २७३४ से 'सनः' तथा 'नानोर्ज्ञः' २७३२ से 'न' की अनुवृत्ति होने पर 'शद्लृ शातने' तथा 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय करने पर 'शिशित्स' तथा 'मुमूर्ष' से आत्मनेपद नहीं होता है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। अतः शिशित्स तथा मुमूर्ष से आत्मनेपद नहीं होने पर परस्मैपद में 'तिप्' प्रत्यय में शिशित्सति एवं मुमूर्षति रूप होते हैं। 'आम्' प्रत्यय के प्रकृति भूत धातु के समान ही अनुप्रयुज्यमान कृ धातु से भी आत्मनेपद होता है। जैसे—एधांचक्रे।

रूपसिद्धि :—

एदिधिषते—एधितुमिच्छति इस विग्रह में 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' २६०८ से एध धातु से सन् प्रत्यय होकर बने एदिधिष के प्रकृति भूत एध धातु के आत्मनेपदी होने के कारण 'पूर्ववत्सनः' २७३४ से सन्नन्त एध (एदिधिष) धातु से आत्मनेपद विधान होने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर एदिधिषते प्रयोग बनता है।

शिशयिषते—शेतुमिच्छति इस विग्रह में शीङ् धातु से सन् प्रत्यय होने पर बने शिशयिष के प्रकृतिभूत शीङ् धातु के आत्मनेपदी होने के कारण 'पूर्ववत्सनः' से सन्नन्त शीङ् (शिशयिष) धातु से आत्मनेपद होने पर लट् लकार में 'त' प्रत्यय होकर एत्व होने से शिशयिषते प्रयोग निष्पन्न होता है।

निविविक्षते—निवेष्टुम् इच्छति इस विग्रह में नि पूर्वक विश् धातु से सन् प्रत्यय होने पर निविविक्ष से आत्मनेपद में 'त' प्रत्यय में एत्व के बाद निविविक्षते रूप होता है।

२७३५। प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु १।३।६४।

प्रयुङ्क्ते, उपयुङ्क्ते। 'स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वक्तव्यम्' (वा० ९३९)। उद्युङ्क्ते। नियुङ्क्ते। 'अयज्ञपात्रेषु' किम्? 'द्वन्द्वं न्यब्जि पात्राणि प्रयुनक्ति'।

यज्ञ पात्र के साधन नहीं रहने पर प्र एवम् उप उपसर्ग से परे युज धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—प्रयुङ्क्ते=प्रयोग करता है। उपयुङ्क्ते=उपयोग करता है। जिस उपसर्ग के आदि में स्वर हो या अन्त में स्वर हो उस उपसर्ग से परे युज् धातु से आत्मनेपद होता है—ऐसा कहना चाहिये। जैसे—उद्युङ्क्ते=उद्योग करता है। नियुङ्क्ते=नियुक्त करता है।

सूत्र में 'अयज्ञपात्रेषु' पढने का फल है कि 'द्वन्द्वं न्यब्जि पात्राणि प्रयुनक्ति' (दो छेद वाले पात्रों का प्रयोग करता है)—इस वाक्य में यज्ञपात्र होने से प्र पूर्वक युज् धातु से आत्मनेपद नहीं होने पर परस्मैपद में तिप् प्रत्यय होने पर प्रयुनक्ति प्रयोग होता है।

रूपसिद्धि :—

प्रयुङ्क्ते—परस्मैपदी युज् धातु से युनक्ति रूप होता है, किन्तु प्र पूर्वक युज धातु का प्रयोग यज्ञपात्र से भिन्न अर्थ में होने के कारण 'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' २७३५ से युज धातु आत्मनेपदी हो जाता है। अतः लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने से 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व होने पर प्रयुङ्क्ते प्रयोग होता है।

उपयुङ्क्ते—यहाँ भी उप पूर्वक युज धातु से 'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' से आत्मनेपद होने पर उपयुङ्क्ते प्रयोग होता है।

उद्युङ्क्ते—यहाँ उत् पूर्वक युज धातु का प्रयोग है। अतः प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' के सन्दर्भ में आये वार्तिक—'स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम्' से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से टि (अ) का एत्व होकर उद्युङ्क्ते प्रयोग होता है।

नियुङ्क्ते—नि पूर्वक युज धातु से नियुङ्क्ते प्रयोग होता है।

२७३६। समः क्ष्णुवः १।३।६५।

संक्ष्णुते शस्त्रम्।

सम् पूर्वक 'क्ष्णु तेजने' धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—संक्ष्णुते शस्त्रम् = शस्त्र को तेज करता है।

रूपसिद्धि :—

संक्ष्णुते शस्त्रम्—'क्ष्णु तेजने' धातु परस्मैपदी है। अतः क्ष्णौति रूप होता है, किन्तु सम् पूर्वक क्ष्णु धातु का प्रयोग रहने पर 'समः क्ष्णुवः' से आत्मनेपद विधान होने से लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर संक्ष्णुते पद बनता है।

२७३७। भुजोऽनवने १।३।६६।

ओदनं भुङ्क्ते। अभ्यवहरतीत्यर्थः। 'बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्'। 'वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते'। इह उपभोगो भुजेरर्थः। अनवने किम्?—महीं भुनक्ति।

रक्षा से भिन्न अर्थ में भुज् धातु से आत्मनेपद होता है। तात्पर्य है कि 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु के पालन तथा भक्षण—दोनों अर्थ हैं, किन्तु जहाँ रक्षा से भिन्न अर्थात् भक्षण अर्थ में भुज् धातु का प्रयोग हो वहाँ भुज् धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—ओदनं भुङ्क्ते=भात खाता है। 'बुभुजे पृथिवीपालः' तथा 'दुःखशतानि भुङ्क्ते'—में भुज् धातु का अर्थ भोग करना है जो रक्षार्थक नहीं है। अतः यहाँ आत्मनेपद हुआ है।

सूत्र में 'अनवने' कहा गया है। अतः रक्षा करने के अर्थ में 'महीं भुनक्ति' (पृथिवी की रक्षा करता है)—इस वाक्य में आत्मनेपद नहीं होने से परस्मैपद होता है।

रूपसिद्धि :—

दुःखशतानि भुङ्क्ते—'भुज् पालनाभ्यवहारयोः' इस धातु पाठ के अनुसार भुज् धातु का अर्थ पालन या रक्षा करना एवं भोजन करना दोनों है। 'धातूनामनेकार्थत्वात्'—इस वचन के कारण उपर्युक्त प्रयोग 'भुङ्क्ते' में भुज धातु का अर्थ उपभोग करना है जो रक्षा से भिन्न अर्थ वाला है। अतः 'भुजोऽनवने' से यहाँ आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर भुङ्क्ते बना है। वाक्य प्रयोग है—दुःखशतानि भुङ्क्ते अर्थात् सैकड़ों दुःख भोगता है।

महीं भुनक्ति—इस वाक्य का अर्थ है—पृथ्वी की रक्षा करता है। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु पाठ के अनुसार भुज धातु का अर्थ रक्षा करना एवं खाना—दोनों है यहाँ भुज का अर्थ रक्षा करना है। अतः 'भुजोऽनवने' से यहाँ भुज धातु से आत्मनेपद नहीं होता है क्योंकि इस सूत्र से रक्षा से भिन्न अर्थ में ही आत्मनेपद होता है। 'फलतः' शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' २१५९ से परस्मैपद होने पर तिप् प्रत्यय में भुज धातु से भुनक्ति बना)।

२७३८। णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्ताऽनाध्याने १।३।६७।

ण्यन्तादात्मनेपदं स्यादणौ या क्रिया सैव चेण्ण्यन्तेनोच्येत, अणौ यत्कर्मकारकं स चेण्णौ कर्ता स्यान्नत्वाध्याने। 'णिचश्च' (सू० २५६४) इति सिद्धेऽकर्त्रभिप्रायार्थमिदम्। कर्त्रभिप्राये तु 'विभाषोपपदेन—' (सू० २७४४) इति विकल्पे 'अणावकर्मकात्—' (सू० २७५४) इति परस्मैपदे च परत्वात्प्राप्ते पूर्वविप्रतिषेधेनेदमेवेष्यते। कर्तृस्थभावकाः कर्तृस्थक्रियाश्चोदाहरणम्। तथाहि—पश्यन्ति भवं भक्ताः, चाक्षुषज्ञानविषयं कुर्वन्तीत्यर्थः। प्रेरणांशत्यागे पश्यति भवः, विषयो भवतीत्यर्थः। ततो हेतुमण्णिच्, दर्शयन्ति भवं भक्ताः। पश्यन्तीत्यर्थः। पुनर्ण्यर्थस्याविवक्षायां, दर्शयते भवः, इह प्रथमतृतीययोरवस्थयोर्द्वितीयचतुर्थ्योश्च तुल्योऽर्थः। तत्र तृतीयकक्षायां न तङ्, क्रियासाम्येऽप्यणौ कर्मकारकस्य णौ कर्तृत्वाभावात्। चतुर्थ्यां तु तङ्। द्वितीयामादाय क्रियासाम्यात् प्रथमायां कर्मणो भवस्येह कर्तृत्वाच्च। 'एवमारोहयते हस्ती' इत्यप्युदाहरणम्। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। न्यग्भावयन्तीत्यर्थः। तत आरोहति हस्ती। न्यग्भवति इत्यर्थः। ततो णिच्, आरोहयन्ति। आरोहन्तीत्यर्थः। तत आरोहयते, न्यग्भवतीत्यर्थः। यद्वा पश्यन्त्यारोहन्तीति प्रथमकक्ष्या प्राग्वत्। ततः कर्मण एव हेतुत्वारोपाण्णिच्। दर्शयति भवः। आरोहयति हस्ती। पश्यत आरोहतश्च प्रेरयतीत्यर्थः। ततो णिज्भ्यां तत्प्रकृतिभ्यां च उपात्तयोर्द्वयोरपि प्रेषणयोस्त्यागे 'दर्शयते' 'आरोहयते' इत्युदाहरणम्। अर्थः प्राग्वत्। अस्मिन् पक्षे द्वितीयकक्ष्यायां न तङ्। समानक्रियात्वाभावाण्णिजर्थस्याधिक्यात्। 'अनाध्याने' किम्? स्मरति वनगुल्मं कोकिलः। स्मरयति वनगुल्मः। उत्कण्ठापूर्वकस्मृतौ विषयो भवतीत्यर्थः। 'भीस्म्योर्हेतुभये' (सू० २५९४)। व्याख्यातम्।

अण्यन्तावस्था की क्रिया जब ण्यन्त धातु से कही जाय और अण्यन्तावस्था का कर्म जब ण्यन्तावस्था में कर्ता बन जाय तब उत्सुकता पूर्वक स्मरण से भिन्न अर्थ में ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है।

इस सूत्र के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिये इसे चार वाक्य खण्डों में विभाजित किया जा सकता है, जो अधोलिखित हैं—

(१) 'णेः आत्मनेपदम्'—ण्यन्तादात्मनेपदं स्यात् अर्थात् ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है।

(२) 'अणौ यत् कर्म णौ चेत्'—अणौ या क्रिया सैव ण्यन्तेन उच्यते चेत्—यहाँ कर्म से क्रिया का तात्पर्य है। अतः अण्यन्तावस्था की क्रिया जब ण्यन्त धातु से कही जाय तभी आत्मनेपद होता है।

(३) 'स कर्ता'—अणौ यत्कर्मकारकं स चेण्णौ कर्ता स्यात्—अण्यन्तावस्था का जो कर्म कारक वह ण्यन्तावस्था में यदि कर्ता हो।

(४) 'अनाध्याने'—न तु ध्याने—आध्यान का अर्थ है—उत्सुकतापूर्वक स्मरण। अतः उत्सुकता पूर्वक स्मरण से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है। अनाध्याने—में 'आध्याने न' यह निषेध की प्रतीति नहीं है, वल्कि अनाध्यान रहने पर आत्मनेपद होता है—ऐसा अर्थ है।

'णिचश्च' २४६४ से कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर णिजन्त धातु से आत्मनेपद सिद्ध है, किन्तु जहाँ कर्तृगामी क्रियाफल न हो वहाँ णिजन्त धातु से आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र है। क्रियाजन्य फल कर्तृगामी होने पर 'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' २७४४ से विकल्प से आत्मपनेद की प्राप्ति होने पर एवम् 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' २७५४ से परत्व के कारण ण्यन्त धातु से परस्मैपद की प्राप्ति होने पर पूर्व विप्रतिषेध के कारण इस 'णेरणौ यत्कर्म' से आत्मनेपद होता है।

कर्तृस्थ भावक और कर्तृस्थ क्रिया वाले धातुओं के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। कर्तृस्थ भावक की व्युत्पत्ति है—कर्तृस्थो भावो येषान्ते कर्तृस्थभावकाः। अर्थात् जिनके भाव कर्ता में स्थित हों। भाव के विवेचन में कहा है—अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः। अर्थात् साधन = कारक के साध्य = क्रिया में स्पन्दन (अङ्ग-प्रत्यङ्ग का हिलाना तथा शिरः कम्पन आदि) रूप लक्षित न हो, ऐसे धात्वर्थ को भाव कहते हैं। यद्यपि दर्शन क्रिया में पलकों का खुलना स्पन्दन है तथापि इस क्रिया में हस्त-पादादि की चेष्टा न होने से इसे अपरिस्पदन कहा है। यहाँ साधन पद से लकार वाच्य कारक विवक्षित है। अतः दृश् धातु को कर्तृस्थ भावकता हुई, कर्तृस्थक्रियाकता न हुई।

कर्तृस्थ भावक का उदाहरण अधोलिखित रूप में चार कक्षाओं में दिया गया है—

१. पश्यन्ति भवं भक्ताः अर्थात् भक्त गण शिव को देखते हैं या उन्हें चाक्षुष ज्ञान विषयीभूत करते हैं। धात्वर्थ यहाँ चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानविषयभूत भवनानुकूल व्यापाररूपार्थक है।

२. पश्यति भवः—यहाँ चाक्षुष ज्ञान का विषय शिव स्वयम् होते हैं। चाक्षुषज्ञान विषयीभूत भवनाश्रय शिव को भक्त प्रेरित करते हैं।

३. दर्शयन्ति भवं भक्ताः—यहाँ 'हेतुमति च' २५७६ से णिच् करने पर दर्शयन्ति प्रयोग हुआ है। दर्शयन्ति का अर्थ है—पश्यन्ति। इस प्रकार दोनों का अर्थ समान है। प्रथम कक्षा—पश्यन्ति भवं भक्ताः में जो धात्वर्थ था यहाँ दर्शयन्ति में णिच् करने पर भी वही अर्थ रहा। प्रथम कक्षा में भव कर्म था। वह यहाँ भी कर्म है।

४. दर्शयते भवः—में ण्यर्थ या प्रेरणांश की अविवक्षा होने पर 'णेरणौ यत्कर्म—' २७३८ से आत्मनेपद हुआ है। आशय है कि भव (शंकर) स्वयम् ही प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। 'पश्यन्ति भवं भक्ताः—' में जो 'भव' कर्म है वह यहाँ कर्ता है तथा 'पश्यति भवः' के साथ क्रिया का साम्य है।

यहाँ प्रथम एवं तृतीय कक्षा में तथा तृतीय एवं चतुर्थ कक्षा में धात्वर्थ समान है। प्रथम एवं तृतीय कक्षा में धात्वर्थ तुल्य होने पर भी आत्मनेपद इस सूत्र से नहीं हुआ क्योंकि अण्यन्तावस्था में जो कर्मकारक 'भव' था वह ण्यन्तावस्था में कर्ता कारक नहीं है।

चतुर्थ कक्षा में 'दर्शयते भवः' में तो आत्मनेपद इस सूत्र से हुआ क्योंकि द्वितीय कक्षा में जो क्रिया धात्वर्थ वाच्य है वही चतुर्थ कक्षा का भी है। अतः क्रियासाम्य है। इसी तरह प्रथम कक्षा में जो 'भव' कर्म था वही चतुर्थ कक्षा में कर्ता है।

कर्तृस्थ क्रिया के विवेचन में कहते हैं—कर्तृस्था क्रिया येषां ते कर्तृस्थक्रियाः धातवः। अर्थात् वे कर्तृस्थ क्रिया कही जाती हैं जिनकी क्रिया कर्ता में स्थित हो। इनके उदाहरण चार कक्षाओं में अग्रलिखित रूप में देते हैं—

१. हस्तिपकाः हस्तिनमारोहन्ति (महावत हाथी पर चढ़ते हैं) यहाँ धात्वर्थ न्यग्भवनानुकूल व्यापार रूप अर्थ वाचक है। हाथी झुकता है और महावत उसे झुकाता है। उपरि गमनानुकूला क्रिया—वह धातु का अर्थ है। हाथी के नीचे झुकने पर ही चढ़ना सम्भव है। झुकने का आधार आश्रय हस्ती कर्म है। झुकाने रूप व्यापार का आश्रय होने के कारण महावत (हस्तिपक) कर्ता है।

२. आरोहति हस्ती (चढ़ने के लिये हाथी झुकता है) प्रेरणांश के परित्याग होने पर उपरि भाग पर चढ़ने के अनुकूल न्यग्भवन अर्थ है। प्रेरणांश के परित्याग का फल है—न्यग्भवनम्।

३. आरोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (महावत हाथी पर चढ़ाते हैं, चढने के लिये झुकाते हैं) धातु के प्रेषण की विवक्षा में यहाँ णिच् का प्रयोग है। प्रेरणांश की निवृत्ति होने पर णिजन्त का फलित अर्थ है—आरोहन्ति।

४. आरोहयते हस्ती (हाथी स्वयं चढा लेता है या चढ़ाने के लिये झुक जाता है) में अविवक्षित प्रेषण होने से ण्यन्त से आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होता है। प्रेरणांश के परित्याग होने पर ण्यन्त का फलित अर्थ है—न्यग् भवति अर्थात् महावत के चढ़ने के लिये झुकता है।

यद्वा—पश्यन्ति भवं भक्ताः एवम् आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः—ये दोनों प्रथम कक्षा के उदाहरण पूर्ववत् व्याख्येय हैं। द्वितीय कक्षा में कर्म में ही प्रयोजकत्व या प्रेरकत्व स्वीकार करके हेतुत्व का आरोप कर द्वितीय कक्षा में णिच् प्रत्यय की उत्पत्ति करके दर्शयति भवः तथा आरोहयति हस्ती—में दिखने वाले या आरोहण करने वाले को भव तथा हस्ती प्रेरित करता है। इसके बाद प्रकृतिभूत दृश् एवं रुह के द्वारा कथित प्रेरणा के त्याग करने पर तथा णिच् से वाच्य प्रेरणा रूप व्यापार के त्याग करने पर दर्शयते भवः तथा आरोहयते हस्ती—में आत्मनेपद कार्य इस सूत्र से हुआ। इनका अर्थ पूर्व के समान है। इस पक्ष में द्वितीय कक्षा में आत्मनेपद नहीं हुआ क्योंकि समान क्रियात्व का अभाव है तथा णिच् प्रत्ययार्थ प्रेरणा रूप व्यापार का आधिक्य है।

'णेरणौ'—इत्यादि सूत्र में 'अनाध्याने' पाठ है। इससे तात्पर्य है कि उत्सुकता पूर्वक स्मरण अर्थ में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। यथा—स्मरति वनगुल्मं कोकिलः = कोयल वन की लताओं को उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण करती है या कोयल उसे उत्कण्ठा का विषय बनाती है। प्रेरणा अर्थ में 'णिच्' होने पर स्मरयति वनगुल्मः—(उत्कण्ठा पूर्वक स्मृति में वन के फूल स्मृति का विषय बनते हैं) प्रयोग होता है।

'भीस्म्योर्हेतुभये' का अर्थ है कि हेतु से भय (डर) या स्मय (अहंकार) गम्यमान रहने पर ण्यन्त—'भी' धातु एवम् 'स्मि' धातु से आत्मनेपद हो जाता है। इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

रूपसिद्धि :—

दर्शयते भवः—दर्शयन्ति भवं भक्ताः—में णिजन्त—'दर्शयन्ति' अणिजन्त 'पश्यन्ति' का समानार्थक है। इसी की दूसरी कक्षा है—दर्शयते भवः।

यहाँ अण्यन्तावस्था की क्रिया—'पश्यति' ण्यन्त दृश् धातु से बतायी जाती है तथा अण्यन्तावस्था का कर्म—'भव' यहाँ कर्ता रूप में दिखाया गया है। अतः णिजन्त धातु दृश्—दर्शय से 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्ताऽनाध्याने' ३७३८ से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय आने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से टि (अ) का एत्व होने पर दर्शयते भवः रूप होता है। वाक्य प्रयोग है—दर्शयते भवः अर्थात् शंकर स्वयम् दर्शन देते हैं।

आरोहयते हस्ती स्वयमेव—आरोहति हस्तिनं हस्तिपकः—की दूसरी कक्षा का रूप है—आरोहयते हस्ती। यहाँ आङ् पूर्वक रुह् धातु से 'णिच्' प्रत्यय अण्यन्त क्रिया—आरोहति के अर्थ में है। तथा अण्यन्तावस्था का कर्म—हस्ती—यहाँ कर्ता रूप में दिखाया गया है। अतः णिजन्त आङ् पूर्वक रुह् धातु—आरोहय से 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्ताऽनाध्याने' ३७३८ से आत्मनेपद का विधान होने पर 'त' प्रत्यय आने के बाद गुण होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' २२३३ से एत्व करके आरोहयते रूप बनाता है। अतः वाक्य प्रयोग है—आरोहयते हस्ती स्वयमेव। अर्थात् हाथी खुद ही महावत को अपने ऊपर चढ़ा लेता है।

२७३९। गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने १।३।६९।

प्रतारणेऽर्थे ण्यन्ताभ्यामाभ्यां प्राग्वत्। माणवकं गर्धयते। वञ्चयते वा। प्रलम्भने किम्? श्वानं गर्धयति। अभिकाङ्क्षामस्योत्पादयतीत्यर्थः। अहिं वञ्चयति। वर्जयतीत्यर्थः। 'लियः संमाननशालिनीकरणयोश्च' (सू० २५९२) व्याख्यातम्।

यहाँ 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्ताऽनाध्याने' २७३८ से 'णौ' की अनुवृत्ति करने पर सूत्रार्थ है—प्रलम्भन = प्रतारण या वञ्चन अर्थ में ण्यन्त गृध धातु एवं वञ्च धातु से आत्मनेपद होता है। यथा—माणवकं गर्धयते। वञ्चयते वा। अर्थात् मनुष्य को लुभाता है या ठगता है। प्रतारण से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है। जैसे—श्वानं गर्धयति = कुत्तों में लालसा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार अहिं वञ्चयति = साँप को त्यागता है।

ण्यन्त लीङ् तथा ली धातु से पूजा, अभिभव तथा प्रलम्भन अर्थ में कर्तृगामी फल नहीं रहने पर भी आत्मनेपद होता है। यथा—जटाभिर्लापयते। अर्थात् जटाओं से पूजित होता है। बालमुल्लापयते = लड़के को ठगता है।

रूपसिद्धि :—

गर्धयते—गृध धातु आकांक्षा अर्थ में परस्मैपदी है। अतः गृध्यति या गर्धयति रूप होता है। गृध धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने पर प्रलम्भन अर्थ में 'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने' २७३९ से णिजन्त गृध धातु से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से गुण के बाद टि (अ) का एत्व होने पर गर्धयते रूप निष्पन्न होता है।

वञ्चयते—वञ्च धातु परस्मैपदी है। अतः वञ्चति एवं वञ्चयति रूप होता है। वञ्चयति=परिहरति। वञ्च धातु से णिच् प्रत्यय होने पर प्रलम्भन अर्थ में 'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने' २७३९ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर एत्व होकर वञ्चयते रूप सिद्ध होता है।

२७४०। मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे १।३।७१।

णेः इत्येव। पदं मिथ्या कारयते। स्वरादिदुष्टमसकृदुच्चारयतीत्यर्थः। मिथ्योपपदात् किम् ? पदं सुष्ठु कारयति। अभ्यासे किम् ? सकृत्पदं मिथ्या कारयति।

'णेरणौ'—' से 'णेः' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—अभ्यास अर्थ में 'मिथ्या' शब्द के उपपद रहने पर णिजन्त कृ धातु से आत्मनेपद होता है। अभ्यास का अर्थ है—बार-बार किसी कार्य को करना। इस सूत्र का उदाहरण है—पदं मिथ्या कारयते। अर्थात् स्वर से दूषित पद को बार बार उच्चारण करता है। सूत्र में 'मिथ्योपपदात्' ग्रहण के कारण पदं सुष्ठु कारयति (पद सुन्दर बनाता है)—में मिथ्या उपपद नहीं रहने से परस्मैपद हुआ।

इसी प्रकार सूत्र में 'अभ्यासे' ग्रहण के कारण सकृत्पदं मिथ्या कारयति—इस वाक्य में एक बार (सकृत्) कहने से परस्मैपद हुआ।

रूपसिद्धि :—

पदं मिथ्या कारयते—'डुकृञ् करणे१५६६धातु परगामी क्रियाफल रहने पर परस्मैपदी होता है। अतः करोति रूप होता है, किन्तु णिजन्त कृ धातु से अभ्यास अर्थ में धातु (कृ) से पूर्व 'मिथ्या' शब्द रहने पर 'मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे' २७४० से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने पर टि (अ) का एत्व होकर कारयते रूप बनता है। अतः वाक्य प्रयोग है—पदं मिथ्या कारयते।

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२। (सू०२१५८) यजते। सुनुते। कर्त्रभिप्राये किम् ? ऋत्विजो यजन्ति। सुन्वन्ति।

स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपद होता है। 'स्वरितञितः' का विग्रह करते हैं—स्वरितश्च ञ् च=स्वरितञौ; तौ इतौ यस्य तस्मादित बहुव्रीहिः। अर्थात् स्वरित स्वर और 'ञ्' वर्ण जिसमें इत्संज्ञक हों वैसे धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल रहने से आत्मनेपद होता है।

स्वरितेत् का उदाहरण है—यज धातु से यजते।

ञित् का उदाहरण है—षुञ् धातु से सुनुते।

सूत्र में 'कर्त्रभिप्राये' ग्रहण के कारण जहाँ क्रिया का फल कर्तृगामी नहीं होता है वहाँ आत्मनेपद नहीं होकर परस्मैपद हो जाता है। जैसे—ऋत्विजो यजन्ति। अर्थात् यजमान से दक्षिणा ग्रहण के लिये ऋत्विक् गण यजन क्रिया कराते हैं। यज्ञ का अदृष्ट फल यजमान को होता है।

२७४१। अपाद्वदः १।३।७३।

न्यायमपवदते। कर्त्रभिप्राये इत्येव, अपवदति 'णिचश्च' (सू० २५६४) कारयते।

'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—क्रियाजन्य फल यदि कर्तृगामी हो तो अप पूर्वक वद धातु से आत्मनेपद होता है। जैसे—न्यायम् अपवदते। अर्थात् न्याय से कानून का खण्डन करता है।

कर्तृगामी क्रियाफल के नहीं रहने पर परस्मैपद होता है। जैसे—अपवदति=गाली देता है। गाली से दूसरे सुनने वाले व्यक्ति को कष्ट होता है। अतः परगामी क्रिया फल होने से परस्मैपद हुआ है।

'णिचश्च' २५६४ से आत्मनेपद होता है। 'येन विधिस्तदन्तस्य' के अनुसार 'णिच्' से णिजन्त धातु का ग्रहण होता है। अतः कृ धातु से 'णिच्' प्रत्यय होने से णिजन्त कृ धातु (कारय) से आत्मनेपद होने पर 'त' प्रत्यय में एत्व होकर कारयते पद बनता है।

२७४२। समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे १।३।७५।

अग्रन्थे इति च्छेदः। व्रीहीन् संयच्छते। भारमुद्यच्छते। वस्त्रमायच्छते। अग्रन्थे किम्? उद्यच्छति वेदम्। अधिगन्तुमुद्यमं करोतीत्यर्थः। कर्त्रभिप्राये इत्येव। व्रीहीन् संयच्छति।

'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है कि ग्रन्थ विषयक प्रयोग नहीं रहने पर सम्, उत् अथवा आङ् उपसर्ग से युक्त यम् धातु से आत्मनेपद होता है यदि कर्तृगामी क्रियाफल हो। यथा—व्रीहीन् संयच्छते=धान का संग्रह करता है। भारमुद्यच्छते=बोझा उठाता है। वस्त्रमायच्छते= वस्त्र को कसता है यहाँ संग्रह करना, उठाना तथा कसना क्रिया का फल कर्तृनिष्ठ है। अतः यम् धातु से आत्मनेपद हुआ है।

सूत्र में 'अग्रन्थे' पाठ होने के कारण उद्यच्छति वेदम् (वेद ग्रन्थ के अध्ययन के लिये उद्योग करता है)—में ग्रन्थ रूप अर्थ (वेदम्) का कथन होने से आत्मनेपद नहीं हुआ है।

रूपसिद्धिः—

संयच्छते व्रीहीन्—यम् धातु परस्मैपदी है। अतः लट् के स्थान में 'तिप्' प्रत्यय होने से यच्छति रूप होता है, किन्तु यहाँ सम् पूर्वक यम् धातु का प्रयोग ग्रन्थ भिन्न अर्थ में रहने

के कारण 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे'२७४२ से आत्मनेपद होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय आने से 'इषुगमियमां छः' से 'म्' का 'छ' आदेश होने पर टि (अ) का एत्व होने के बाद अनुस्वार करके संयच्छते रूप होता है। इसका अर्थ है—संग्रह करता है।

उद्यच्छते भारम्—उत्-पूर्वक यम् धातु से 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' से आत्मनेपद होने पर उद्यच्छते पद बनता है अर्थात् भार उठाता है।

२७४३। **अनुपसर्गाज्ज्ञः** १।३।७६।

गां जानीते। अनुपसर्गात् किम्? 'स्वर्गं लोकं न प्रजानाति।' कथं तर्हि भट्टिः—'इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य' इति कर्मणि लिट्। नृपेणेति विपरिणामः।

'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'२१५८ से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति होने पर सूत्रार्थ है—उपसर्ग रहित ज्ञा धातु से कर्तृगामी क्रियाफल रहने पर आत्मनेपद होता है। सकर्मक क्रिया से आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र है। यथा—गां जानीते। ज्ञा धातु से पूर्व में उपसर्ग रहने पर परस्मैपद होता है। जैसे—स्वर्गं लोकं न प्रजानाति।

ज्ञा धातु का प्रयोग अकर्मक अर्थ में रहने पर पूर्व सूत्र 'अकर्मकाच्च' २७१८ से आत्मनेपद होता है। जैसे—सर्पिषो जानीते।

'इत्थं नृपः पूर्वमवालुलोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्य'—इस भट्टि के प्रयोग में शंका होती है कि अनु उपसर्ग से युक्त ज्ञा धातु से 'अनुजज्ञे' में आत्मनेपद कैसे हुआ? उसका समाधान करते हैं कि इस वाक्य में 'नृपः' जो प्रथमान्त है उसे तृतीया विभक्ति से विपरिणाम करके कर्म में लट् लकार करके 'नृपेण अनुजज्ञे' यह तात्पर्य है।

रूपसिद्धिः—

गां जानीते—यहाँ उपसर्ग रहित सकर्मक ज्ञा धातु का प्रयोग है। अतः 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' २७४३ से आत्मनेपद का विधान होने पर लट् के स्थान में 'त' प्रत्यय होने पर टि (अ) का एत्व होकर गां जानीते प्रयोग है।

उपसर्ग युक्त ज्ञा धातु में परस्मैपद होता है। जैसे प्रपूर्वक ज्ञा धातु से प्रजानाति रूप होता है।

२७४४। **विभाषोपपदेन प्रतीयमाने** १।३।७७।

'स्वरितञितः' इत्यादिपञ्चसूत्र्या यदात्मनेपदं विहितं तत्समीपोच्चारितेन पदेन क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वे द्योतिते वा स्यात्। स्वं यज्ञं यजति—यजते वा। स्वं कटं करोति कुरुते वा। स्वं पुत्रम् अपवदति-अपवदते वा। स्वं यज्ञं कारयति-कारयते वा। स्वं व्रीहिं संयच्छति-संयच्छते वा। स्वां गां जानाति-जानीते वा।

इति तिङन्ते आत्मनेपदप्रकरणम्

यहाँ 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' २१५८ से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति होने पर इस सूत्र का अर्थ है कि उपपद के द्वारा कर्तृगामी क्रियाफल के प्रतीत होने पर पूर्व प्रोक्त—'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले', २१५८ 'अपाद्वदः' २७४१ 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' २७४२ तथा 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' २७४३—इन पाँच सूत्रों से आत्मनेपद विकल्प से होता है। अतः पक्ष में परस्मैपद होता है। 'स्वरिञितः—' आदि पाँच सूत्रों से नित्य प्राप्त आत्मनेपद को बाध कर विकल्प से आत्मनेपद विधान के लिये यह सूत्र प्रवृत्त हैं। इन सूत्रों के उदाहरण सहित विवरण इस प्रकार हैं—

सूत्र	उदाहरण
१. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले—	स्वं यज्ञं यजति यजते वा (अपने कल्याण के लिये यज्ञ करता है), स्वं कटं करोति कुरुते वा (अपने लिये चटाई बनाता है।)
२. अपाद्वदः—	स्वम् पुत्रम् अपवदति अपवदते वा। (अपने पुत्र को अनुकूल होने के लिये डाँटता है)
३. णिचश्च—	स्वं यज्ञं कारयति कारयते वा (अपने हित के लिये यज्ञ करवाता है)
४. समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे—	स्वं व्रीहिं संयच्छति संयच्छते वा (अपने लिये धान संग्रह करता है)
५. विभाषोपपदेन प्रतीयमाने—	स्वां गां जानाति जानीते वा। (अपनी गाय को जानता है)

इति डॉ० रामविलास चौधरी-विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां ध्रुवविलासिन्यां आत्मनेपदव्यवस्था परिपूर्णा।